तुलसी प्रज्ञा

TULSÍ PRAJÑÁ

वर्ष 32 ◦ अंक 123 ◦ जनवरी-मार्च, 2004

Research Quarterly

अनुसंधान त्रैमासिकी

जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूँ
(मान्य विश्वविद्यालय)
JAIN VISHVA BHARATI INSTITUTE, LADNUN
(DEEMED UNIVERSITY)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तुलसी प्रज्ञा

TULSI PRAJÑĀ

Research Quarterly of Jain Vishva Bharati Institute

VOL.-123 JANUARY—MARCH, 2004

Patron

Sudhamahi Regunathan
Vice-Chancellor

Editor in

Hindi Section

Dr Mumukshu Shanta Jain

English Section

Dr Jagat Ram Bhattacharyya

Editorial-Board

Dr Mahavir Raj Gelra, Jaipur
Prof. Satya Ranjan Banerjee, Calcutta
Dr R.P. Poddar, Pune
Dr Gopal Bhardwaj, Jodhpur
Prof. Dayanand Bhargava, Ladnun
Dr Bachh Raj Dugar, Ladnun
Dr Hari Shankar Pandey, Ladnun
Dr J.P.N. Mishra, Ladnun

Publisher :
Jain Vishva Bharati Institute, Ladnun-341 306

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Research Quarterly of Jain Vishva Bharati Institute

VOL. 123 JANUARY—MARCH, 2004

Editor in Hindi
Dr Mumukshu Shanta Jain

Editor in English
Dr Jagat Ram Bhattacharyya

Editorial Office
Tulsī Prajñā, Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University)
LADNUN-341 306, Rajasthan

Publisher	:	Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun-341 306, Rajasthan
Type Setting	:	Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun-341 306, Rajasthan
Printed at	:	Jaipur Printers Pvt. Ltd., Jaipur-302 015, Rajasthan

The views expressed and facts stated in this journal are those of the writers, the Editors may not agree with them.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुक्रमणिका/CONTENTS

हिन्दी खण्ड

विषय	लेखक	पृष्ठ
जीव का क्रमिक विकास : जैन तथा वैदिक दृष्टि	प्रो. दयानन्द भार्गव	1-6
जैन अर्द्धमागधी आगम में प्रसाधन कला	डॉ. हरिशंकर पाण्डेय	7-20
स्वप्नों का रहस्यमय संसार	समणी सत्यप्रज्ञा	21-26
शांति : अवधारणा एवं गांधीय दृष्टिकोण	डॉ. राधा कुमारी	27-35
विन्ध्यगिरि की जैन कला की महत्ता	सुश्री अरुणा सोनी	36-41
क्या विद्युत् (इलेक्ट्रीसीटी) सचित्त तेउकाय है ?	प्रो. मुनि महेन्द्र कुमार	42-83

अंग्रेजी खण्ड

Subject	Author	Page
Ācārāṅga-Bhāṣyam	Ācārya Mahāprajña	85-93
Nayas—Ways of Approach and Observation	Nathmal Tatia	94-100
Essai Sur Guṇāḍhya Et La Bṛhatkathā	Professor Felix Lacote	101-107

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उभयतः पाश

आकाश के सामने प्रस्तुत होता हूँ तब अपने को एक परमाणु जैसा पाता हूँ। सागर के सामने प्रस्तुत होता हूँ तब अपने को एक बिन्दु जैसा पाता हूँ। मैं चेतन हूँ, आकाश अचेतन है। मैं विचारशील हूँ, सागर विचारशून्य है, फिर भी आकाश और सागर की तुलना में मैं छोटा हूँ। क्या यह चैतन्य को चुनौती नहीं है? क्या चैतन्य असीम और अपार नहीं है? यदि है तो वह साढ़े तीन हाथ की सीमा में सीमित क्यों? यदि वह असीम और अपार नहीं है तो आकाश और सागर को अपनी बांह में भरने का प्रयत्न क्यों?

-- अनुशास्ता आचार्य तुलसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीव का क्रमिक विकास : जैन तथा वैदिक दृष्टि

प्रो. दयानन्द भार्गव

प्रस्तुत लेख में हम विचार करेंगे कि वैदिक परम्परा में जीव का निरूपण किस रूप में हुआ है, क्योंकि वैदिक परम्परा में जीव का निरूपण अनेक दृष्टियों से जैन परम्परा के निकट भी है और अनेक दृष्टियों से उसका अपना वैशिष्ट्य भी है। अत: दोनों का तुलनात्मक अध्ययन दोनों परम्पराओं के लिए ज्ञानवर्द्धक सिद्ध होगा।

वर्गीकरण का आधार - जैन और वैदिक परम्परा में जीव के विकास का तारतम्य ज्ञान के विकास के आधार पर माना जाता है। ज्ञान के विकास का यह तारतम्य जैन परम्परा में ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम पर आश्रित है। वैदिक परम्परा में ज्ञान का विकास तीन गुणों के आधार पर किया गया है-तमोगुण की जितनी अधिकता होती है, ज्ञान उतना कम होता है और सत्वगुण की जितनी अधिकता होती है, ज्ञान उतना अधिक होता है। जैन दर्शन में ज्ञान के विकास की सूचना इन्द्रियों के विकास से मिलती है- एकेन्द्रिय का ज्ञान सबसे कम है। पंचेन्द्रिय का ज्ञान सबसे अधिक है। वैदिक परम्परा में ज्ञान के विकास की सूचना इस बात से मिलती है कि जीव का भूमि से स्पर्श कितना कम या ज्यादा है। जिस जीव का भूमि से जितना संस्पर्श अधिक है उसका ज्ञान उतना ही अधिक है और जिस जीव का भूमि से जितना संस्पर्श कम है उसका ज्ञान उतना ही कम है।

इस प्रारम्भिक भूमिका के बाद अब हम वैदिक परम्परा में जीवों के वर्गीकरण का कुछ विस्तार से चर्चा करेंगे। जैन परम्परा में जीव का निरूपण का विस्तार श्री भिक्षु आगम विषय कोष और जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष में सप्रमाण विस्तार से दिया गया है।

जीव की तीन शक्तियां- वैदिक परम्परा में जीव की तीन शक्तियां मानी गई हैं- अर्थ-शक्ति, क्रिया-शक्ति और ज्ञान-शक्ति। इनमें क्रमश: पहली की अपेक्षा दूसरी और दूसरी की अपेक्षा तीसरी अधिक सूक्ष्म और अधिक शक्तिशाली है।

पाषाण की स्थिति- जीवों की सबसे निम्न कोटि में वे जीव आते हैं जिनमें अर्थ-शक्ति ही मुख्य है। पाषाण और सभी धातुएं इसी कोटि के जीव हैं। सामान्यत: इन्हें अचेतन माना जाता है किन्तु जैन इन्हें स्थावर जीव मानता है, क्योंकि इनमें स्थूल क्रिया नहीं है। वैदिक परम्परा भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाषाण और धातुओं में जीवन मानती है और साथ ही यह भी मानती है कि इनमें स्थूल क्रिया नहीं है। स्थूल क्रिया के अभाव के कारण ये वनस्पति पशु अथवा मनुष्य के समान बढ़ते नहीं। यह चेतना का सबसे कम विकसित रूप है। इसलिये पाषाण अथवा धातु का पूरा का पूरा शरीर पृथ्वी से सटा रहता है। वैदिक देवों की परिभाषा में सभी शरीर अग्नि से बनते हैं जिसे वैश्वानर अग्नि भी कहा जाता है। पाषाण और धातुओं का शरीर तो इस अग्नि से बन जाता है किन्तु वायु तत्व के द्वारा होने वाली क्रिया और आदित्य तत्व के कारण होने वाला ज्ञान इसमें इतना कम होता है कि हम उसे पकड़ नहीं पाते है और सामान्यतया इन्हें जड़ ही समझ लेते हैं किन्तु वेद इनमें चेतना मानते हैं और इसलिये वैदिक मंत्रों में पाषाणों को सम्बोधित करके कहा गया है कि हे पाषाणों, सुनों— शृण्वन्तु ग्रावाणः। इससे स्पष्ट होता है कि श्रोत्रेन्द्रिय न होने पर भी पाषाण सुनते हैं, अग्नि और वायु जिन्हें जैन स्थावरकायिक जीव मानता है, उनका उल्लेख तो वैदिक परम्परा में अर्थ शक्ति प्रधान है और सबसे कम विकसित जीवों के रूप में है किन्तु कोई ऐसा स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता कि वैदिक परम्परा जल, अग्नि और वायु को भी जैनों के समान स्थावर कोटि की श्रेणी में रखती है या नहीं। उल्लेखनीय है कि उत्तराध्ययन में अग्नि और वायु को भी त्रस ही माना गया है, स्थावर नहीं। वैदिक परम्परा में अग्नि और वायु देव कोटि में आते हैं, अतः जीवों के वर्गीकरण करते समय उनका उल्लेख जीवों में न करके जीवों में रहने वाली देव शक्ति के रूप में किया गया। अग्नि की शक्ति जीवों को मूर्त रूप प्रदान करती है, वायु की शक्ति उन्हें क्रियाशील बनाती है। इन्हें क्रमशः वाक् शक्ति और प्राण-शक्ति भी कहा गया है। दोनों परवर्ती दर्शन में क्रमशः तमोगुण और रजोगुण के नाम से जानी जाती हैं। तीसरा गुण सत्वगुण है जो आदित्य नाम के देव से आता है और जिसके कारण जीव में ज्ञान उत्पन्न होता है। इस प्रकार अग्नि और वायु जैन परम्परा में जीव है किन्तु वैदिक परम्पराओं में देव है। यद्यपि यह भेद है कि जैन परम्परा में सूर्य वैदिक परम्परा के समान सत्वगुण का स्रोत नहीं है। इतनी बात दोनों परम्पराओं में समान है कि धातु और पाषाण को दोनों ही परम्परा स्थावर जीव मानती है। जिनमें ज्ञान तो है किन्तु अत्यन्त अल्पमात्रा में ।

वनस्पति- वैदिक परम्परा में वनस्पति को एकेन्द्रिय होने पर भी अन्य एकेन्द्रियों की अपेक्षा अधिक विकसित माना गया है। आचारांग में वनस्पति में जीव होने के लिए जैसे प्रमाण दिये गये हैं वैसे प्रमाण पृथ्वीकाय आदि के लिए नहीं दिये गये हैं। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वनस्पति का जीव पृथ्वीकाय आदि की अपेक्षा अधिक विकसित है। वैदिक परम्परा में भी वनस्पति में चेतना का अधिक विकसित रूप मानते हुए उन्हें पाषाण और धातुओं की अपेक्षा अलग कोटि में रखा गया है। महाभारत में कहा गया है कि वनस्पति में स्पर्श करने की, सुनने की, देखने की और सुख-दुःख अनुभव करने की सामर्थ्य है। वैदिक परम्परा में वनस्पति के पाषाण धातु की अपेक्षा अधिक विकसित होने के कारण यह दिया गया है कि पाषाण और धातुओं में केवल तमोगुण ही व्यक्त रहता है जबकि वनस्पति में रजोगुण भी अभिव्यक्त हो जाता है। जिसके कारण इतने क्रियाशील हो जाते हैं कि इनमें भी पशुओं तथा मनुष्यों के समान वृद्धि होती है तथा आहार न मिलने पर ये म्लान होकर मरते हुए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी प्रतीति में आते हैं फिर भी इनमें तमोगुण अभी इतना प्रबल रहता है कि ये अपने स्थान से चलकर दूसरे स्थान पर नहीं जा सकते अर्थात् ये स्थावर ही हैं, जंग अथवा त्रस नहीं।

वनस्पति और पाषाण- तमोगुण का न्यूनाधिक भूमि के सम्पर्क के न्यूनाधिक्य से जाना जाता है। एक पत्थर की शिला को देखें तो उसका जितना भाग भूमि का स्पर्श करता है, एक वृक्ष का उसकी अपेक्षा बहुत कम भाग भूमि का स्पर्श करता है। केवल उसका तना भूमि को छूता है किन्तु शाखा, प्रशाखा, फल-फूल, पत्ते सब भूमि से ऊपर रहते हैं। यह इस बात का सूचक है कि वनस्पति में पत्थर की अपेक्षा तमोगुण बहुत कम है ।

कर्म तथा त्रिगुण - तमोगुण, रजोगुण तथा सत्वगुण जैनों के कर्मों के समान स्वयं जड़ होने पर भी जीव की चेतना को प्रभावित करते हैं। जिस प्रकार कोई भी सांसारिक जीव कर्म के बिना नहीं रह सकता उसी प्रकार कोई भी संसारी जीव कर्म के बिना नहीं रह सकता। कर्म के क्षयोपशम की भांति जीव के त्रिगुणों में भी न तो कर्म रहते हैं, न त्रिगुण पाषाण धातु में तमोगुण व्यक्त हो जाता है, रजोगुण तथा सत्वगुण अव्यक्त हैं। वनस्पति में रजोगुण भी व्यक्त हो जाता है किन्तु सत्वगुण अव्यक्त है। ये सब वक्तव्य मुख्य-गौण की अपेक्षा है। परमार्थतः सबमें सभी गुण हैं।

त्रिगुण, त्रिदेव तथा त्रिलोक - वैदिक परम्परा गुणों का सम्बंध त्रिदेवों से तथा त्रिलोकी मानकर चलती है। अग्नि तथा भूमि का संबन्ध तमोगुण से है, वायु तथा अन्तरिक्ष का संबंध रजोगुण से है तथा आदित्य एवं धूलों का संबंध सत्वगुण से है। इसलिए जैसे ही वनस्पति में रजोगुण अभिव्यक्त होता है, वनस्पति वैसे ही अंतरिक्ष में प्रसार करने लगती है। क्योंकि रजोगुण का संबंध अंतरिक्ष से है। लताओं में वृक्षों की अपेक्षा तमोगुण अधिक होता है, अतः वे पृथ्वी पर ही फैलती हैं तथापि वे वनस्पति की सजातीय होने के कारण अन्तरिक्षोन्मुखी होना चाहती है और वृक्ष अथवा भीति आदि का सहारा पाकर ऊपर की ओर फैलने लगती है। इतना ही नहीं, यदि किसी लता के निकट कोई वृक्ष हो तो वह लता किसी ओर न जाकर वृक्ष की ओर बढ़ती है ताकि उसे वृक्ष का सहारा मिले तो वह भूमि के बंधन से उठकर अन्तरिक्ष में जा सके । यह जीव के ऊर्ध्वोन्मुख होने की यात्रा का ही प्रारम्भ है। इस यात्रा का चरम बिन्दु तो वे देव हैं जो भूमि का बिल्कुल भी स्पर्श न करके केवल अधर में ही विचरण करते हैं।

सहस्त्रपाद से चतुष्पाद- देव योनि से पहले वनस्पति के बाद अभी जीव को और भी यात्रा करनी है। एक सहस्त्रपाद कीट को देखें। मानो उसका सारा शरीर पांव ही पांव है। वह भूमि से जुड़ा है। किन्तु वह वनस्पति की अपेक्षा भूमि के बंधन से इतना मुक्त हो गया है कि वह वृक्ष की भांति भूमि से चिपका हुआ नहीं है। वह एक स्थान से दूसरे स्थान तक जा सकता है, किन्तु सहस्त्र पांवों के माध्यम से वह अधिकाधिक भूमि से जुड़कर ही चल सकता है। भूमि से उसका यह जुड़ाव धीरे धीरे कम होता है। सहस्त्रपाद शतपाद बन जाता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। फिर क्रमशः 12-16 पाद रहते-रहते 8 पाद वाली मकड़ी बनती है। फिर मक्खी जिसके दो पंख और 6 पाद होते हैं। फिर (चतुष्पाद कीट) सृष्टि यहीं तक है।

कीट से पशु- पशु के भी चार पांव होते हैं किन्तु कीट की अपेक्षा उसके शरीर का अधिक भाग भूमि से बहुत ऊपर उठ जाता है। उसका सारा शरीर न तो सर्प की भाँति भूमि से चिपटता है, न देवों की भाँति सर्वथा भूमि से ऊपर उठ जाता है। वह तिरछा होकर भूमि के समानान्तर रहता है। इसीलिए उसे तिर्यञ्च कहा जाता है। पक्षी में भूमि का यह आकर्षण और भी कम हो जाता है, उसकी पूँछ भूमि की तरफ रहती है किन्तु मस्तक ऊपर की ओर उठा रहता है, इसलिए पक्षी पशु की अपेक्षा अधिक कुशलता दिखाते हैं। पशु आहार तो करता है किन्तु अपना घर नहीं बनाता। पक्षी अपना घर भी बनाता है। बया जैसे पक्षी का घोंसला तो शिल्प का उत्कृष्ट उदाहरण है और उसकी बुद्धिमत्ता का परिचायक है। किन्तु पशु-पक्षी तक में भी रजोगुण ही मुख्य है।

तिर्यञ्च से मनुष्य : तिर्यञ्च के बाद मनुष्य योनि आती है। यह चतुष्पाद से द्विपाद बन जाता है किन्तु उससे भी बड़ी विशेषता यह है कि इसका मुख पशु-पक्षियों के समान भूमि की ओर झुका नहीं रहता अपितु सूर्य की ओर लम्बित हो जाता है। यह सत्वगुण के आधिक्य का सूचक है। इसलिए मनुष्य सभी दृश्यमान प्राणियों में सबसे अधिक बुद्धिमान है। इस बुद्धि के आधार पर वह केवल अपने लिए सुख-सुविधा ही नहीं जुटाता अपितु उचित-अनुचित का विवेक भी करता है। यही उसकी अन्य प्राणियों की अपेक्षा विशेषता है।

वानर - पशुओं और मनुष्यों के बीच की स्थिति वानरों की है जिन्हें नरों के निकट होने के कारण वानर कहा जाता है। वह पशुओं के समान चार पैरों पर चलता है तथा किसी भोज्य पदार्थ को खाने के लिए अपने दो पैरों को मनुष्य के समान हाथों की तरह भी काम में लेता है। इस प्रकार के शारीरिक सादृश्य को देखकर डॉर्विन ने यह निर्णय ले लिया था कि वानर जाति मानव जाति का पूर्व रूप है किन्तु शारीरिक दृष्टि से भी मनुष्य और वानर में यह मौलिक अन्तर है कि मानव शिशु के उत्पन्न होने पर उसका नाल काटना पड़ता है जबकि वानर के साथ ऐसा नहीं होता। यह सच है कि वानर भी अपना मुख मनुष्य के समान ही कभी-कभी भूमि से ऊपर उठा लेता है और इस अपेक्षा से वह और पशुओं की अपेक्षा बुद्धिमान भी अधिक है। वनमानुष जैसे पशु में यह बुद्धिमत्ता स्पष्ट भी है किन्तु मनुष्य की बुद्धिमत्ता को वह नहीं छू सकता, क्योंकि मूलतः वह भी चौपाया ही है, दुपाया नहीं।

मनुष्य में भी देखने में आता है कि ज्यों-ज्यों शिशु का बौद्धिक विकास होता है, त्यों-त्यों वह भूमि से ऊपर उठता है। प्रारम्भ में यह पूरा का पूरा भूमि से जुड़ा रहता है। धीरे-धीरे वह सिर से ऊपर उठता है और फिर हाथ-पाँव के बल चलते हुए अन्ततः दो पांव पर खड़ा होता है। इस क्रम में जैसे-जैसे उसका भूमि से सम्पर्क कम होता है वैसे-वैसे बुद्धि का भी विकास होता है। इस प्रकार पाषाण और धातुओं से लेकर मनुष्य योनि तक जीव का विकास इस बात से जुड़ा है कि उसका शरीर भूमि के बन्धन से कितनी मात्रा में मुक्त हो पाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देवसर्ग - यद्यपि मनुष्य में पशु-पक्षियों की अपेक्षा बहुत अधिक ज्ञान है तथापि वह भी मूलतः रजोगुण प्रधान ही है। अपने दो पाँव के माध्यम से अभी भी वह भूमि से जुड़ा है किन्तु जीव का एक और विकसित रूप भी है जिसे देवसर्ग कहा जाता है। जीव अपने इस स्वरूप में भूमि को बिल्कुल नहीं छूता। इसलिए देवताओं के पदचिह्न नहीं बनते। इन्द्रियों की दृष्टि से जहाँ मनुष्य में पाँच कर्मेन्द्रियां, पाँच ज्ञानेन्द्रियां और एक मन मिलाकर ग्यारह इन्द्रियाँ हैं, वहां देव योनि में आठ सिद्धियाँ और नौ तुष्टियाँ मिलाकर अट्ठाइस इन्द्रियाँ मानी जाती हैं। यह देव सर्ग प्रत्यक्ष नहीं है। इसलिए इसकी चर्चा हम नहीं कर रहे हैं।

निष्कर्ष - अभी तक जो हमने कहा, उसके मूल में जाएं तो पता चलेगा कि जैन परम्परा और वैदिक परम्परा में जीवों के वर्गीकरण की पद्धति तो भिन्न है किन्तु उन दोनों की मूलभूत मान्यताएँ एक जैसी हैं।

1. हम कह सकते हैं कि दोनों ही परम्परायें पाषाण और धातुओं को सजीव मानती हैं।
2. दोनों ही परम्पराएं जीव के विकास का आधार ज्ञान का विकास मानती हैं किन्तु जैन परम्परा में ज्ञान के विकास का आधार ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम है जबकि वैदिक परम्परा में ज्ञान के विकास का आधार तमोगुण की न्यूनता और सत्त्वगुण का आधिक्य है।
3. दोनों परम्परायें मानती हैं कि ज्ञान के विकास के साथ शारीरिक विकास भी होता है। जैन परम्परा के अनुसार यह शारीरिक विकास इन्द्रियों की संख्या की अभिवृद्धि के आधार पर होता है जबकि वैदिक परम्परा के अनुसार इस विकास का आधार यह है कि जीव का शरीर भूमि के बन्धन से कितना अधिक मुक्त हो जाता है।
4. दोनों परम्परायें इस विषय में सहमत हैं कि मनुष्य के अतिरिक्त कुछ ऐसी जीव-योनियाँ भी हैं, जो हमें दिखाई नहीं देती और उन योनियों में जीव के पास मनुष्य से भी अधिक अलौकिक शक्तियाँ होती हैं।
5. दोनों परम्परायें इस विषय में सहमत हैं कि देव-योनि की प्राप्ति जीव का अन्तिम लक्ष्य नहीं, क्योंकि वहां कर्म, त्रिगुण और शरीर शेष है। इसलिये वहाँ का सुख भी सान्त ही है, अनन्त नहीं। अनन्त सुख तो कर्मातीत, त्रिगुणातीत और देहातीत अवस्था में है।
6. दोनों परम्परायें इस विषय में भी सहमत हैं कि जीव मनुष्य शरीर में ही रहकर इस मुक्त अवस्था को प्राप्त कर सकता है।
7. दोनों परम्परायें मानती हैं कि एक-एक जीव अपने पुरुषार्थ से विकास के सोपान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर चढ़ता है किन्तु कोई एक जाति विकसित होकर दूसरी जाति में नहीं बदल जाती। उदाहरणत:—

अधिभूत	**अधिदैव**	**अध्यात्म**
भूमि (अर्थ-शक्ति)	अग्नि (=तमोगुण) भूमि का स्पर्श सर्वाधिक)	शरीर है किन्तु इन्द्रियाँ नहीं उदाहरण-पाषाण, धातु आदि **पाद-रहित** — स्थावर
अन्तरिक्ष (क्रिया-शक्ति)	वायु (=रजोगुण) भूमि का स्पर्श कम किन्तु भूमि छोड़ने की क्षमता का अभाव	शरीर है, इन्द्रियाँ नहीं, किन्तु अपने स्थान पर रहकर ही आहार द्वारा वृद्धि उदाहरण - वनस्पति, लता आदि **पादप** — स्थावर
द्युलोक (ज्ञान-शक्ति)	आदित्य (=सत्त्वगुण) भूमि को छोड़ने की क्षमता का विकास (भूमि से सम्पर्क क्रमश: कम होता जाता है)	शरीर है, इन्द्रियों का भी प्रादुर्भाव होता है। विकास का क्रम निम्न लिखित है - 1. **सहस्रपाद** कृमि से चतुष्पाद कृमि तक 2. **चतुष्पाद** पशु 3. **अर्धचतुष्पाद** वानर 4. **द्विपाद** - मनुष्य — त्रस एकेन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय तक
	भूमि का स्पर्श बिल्कुल नहीं	5. **अपाद** - देव (भूमि का स्पर्श नहीं) — देव योनि

पाद भूमि से ऊपर उठते-उठते भूमि के बन्धन से मुक्त होने का साधन बनते हैं। द्विपाद मनुष्य भूमि के बन्धन से ही नहीं, शरीर के बन्धन से भी मुक्त हो सकता है। शरीर के बन्धन से मुक्त होने की प्रक्रिया जैन-परम्परा में गुणस्थानों के माध्यम से तथा वैदिक-परम्परा में योगवाशिष्ठ में दी गयी भूमिकाओं के माध्यम से वर्णित है, किन्तु वह प्रस्तुत लेख का विषय नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन अर्द्धमागधी आगम में प्रसाधन कला

डॉ. हरिशंकर पाण्डेय

सृष्टि का हर जीव सौन्दर्य-प्रिय होता है। सुन्दर और सौन्दर्य की अनुभूति की अभिलाषा अवचेतन मन में संस्कारगत विद्यमान रहती है। प्रकृति जगत्, मानव-संसार सब कुछ सौन्दर्यमय होता है। सुन्दर दिखना, सुन्दर देखना और सुन्दर दिखाना यह मूल तत्त्व होता है। भोजन, अन्न, पानी की पूर्णता के बाद सृष्टि जगत् उपर्युक्त त्रिपादी की ओर प्रस्थान करता है। उसके कल्पना लोक में सौन्दर्य की अनुपमेय कला विद्यमान होती है, जिसमें रमकर व्यक्ति रमणीय बन जाता है।

यह सुन्दरता और रमणीयता दो तरह की ही होती है - आन्तरिक और बाह्य। आन्तरिक सौन्दर्य आत्मगत सौन्दर्य है, जो शील, व्यवहार, चरित्र एवं अन्य बाह्य कार्यों से अभिव्यक्त होता है। बाह्य सौन्दर्य शारीरिक सौन्दर्य है, जिसका द्वैविध्य प्रसिद्ध है—निसर्गगत और कृत्रिम। निसर्गगत रमणीयता लोकोत्तर एवं श्रेष्ठ होती है। कालिदास आदि कवियों ने स्पष्ट रूप से उद्घोष किया है —

किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्॥[१]

दूसरा सौन्दर्य कृत्रिम होता है, जो प्रसाधन-साध्य है, जिसमें रूपनिखार एवं सौन्दर्य सम्बर्द्धन के लिए बाह्य वस्तुओं — चन्दन, अगरु, सुगंधित तैल, पुष्प, आभूषण, वस्त्र आदि का प्रयोग किया जाता है।

प्रसाधन-साध्य बाह्य सौन्दर्य की महत्ता भी कम नहीं है। प्राचीन काल से ही भारतीय संस्कृति प्रसाधन-विद्या में अग्रणी रही है। यही कारण है कि प्रसाधन विधि को प्रमुख ७२ या ६४ कलाओं में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

प्रसाधन विमर्श

प्र उपसर्ग पूर्वक स्वादिगणीय 'साधसंसिद्धौ'[२] धातु से ल्युट् प्रत्यय करने पर प्रसाधन शब्द निष्पन्न होता है। 'प्रसाध्यतेऽनेनेति प्रसाधनम्' अर्थात् जिससे यशस्वी बनाया जाए, रमणीय बनाया जाए, सुन्दर बनाया जाए, वह प्रसाधन है। 'प्रसाधन'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्द में विनियुक्त प्र उपसर्ग एवं साध् धातु प्रसाधन की महनीयता एवं यशस्वीयता को सिद्ध करता है। प्रसाधन केवल बाह्य दिखावा मात्र नहीं बल्कि अपने को पूर्ण बनाने की कला है। सत्य, शिव और सुन्दर तीनों का साहचर्य ही प्रसाधन है। यही कारण है कि सृष्टि समस्त मानवों में चेतन प्राणियों में प्रसाधन की प्रवृत्ति पाई जाती है। एक सर्वस्व त्यागी एवं सर्वात्मना विरक्त महात्मा भी अपनी नित्यक्रिया में शरीर को प्रसाधित करता है, जटाओं को सजाता है, नित्यप्रति स्नान करता है। विश्व सुन्दरी पार्वती और निसर्गरमणीय शकुन्तला का प्रसाधन वनलता एवं वनपल्लवों से ही होता है। वृक्ष-वल्कल से सुशोभित शकुन्तला की देहयष्टि के ऊपर दुष्यन्त आकर्षित हो जाता है। दो विधाताओं की श्रमसाध्या अनुपमा सृष्टि राजशेखर की कर्पूरमंजरी आंखों के माध्यम से संसार के चित्त पर अपना अधिकार कर लेती है —

चित्ते लिहिज्जदि ण कस्स वि संजमंती[३]
सवणपहनिविट्ठा माणसं मे पविट्ठा॥[४]

अर्द्धमागधी आगम साहित्य में ऐसे अनेक स्थल है, जहां पर प्रसाधन-कला का विस्तार से वर्णन मिलता है। पुत्र जन्मोत्सव, राज्याभिषेक, विवाहोत्सव, दीक्षा-महोत्सव आदि के अवसर के अतिरिक्त प्रतिदिन नित्यक्रिया-काल में स्नान, मज्जन, विलेचन, सुगंधित द्रव्यों का प्रयोग आदि किया जाता था। श्रमणोपासक गाथापति आनन्द की पत्नी 'शिवानन्दा' को शृंगार का आगार कहा गया है। ज्ञाताधर्म और राजप्रश्नीयसूत्र में धारिणी को शृंगार से विभूषित बताया गया है। पुत्रोत्सव-काल में अनेक बहुमूल्य प्रसाधनों का प्रयोग किया जाता था। भगवान महावीर के दीक्षा पूर्व उनके शरीर को खूब सजाया गया था। मेघकुमार, थावच्चापुत्रादि के दीक्षोत्सव पर उनके शरीर को प्रभूत रूप से प्रसाधित किया गया था।

प्रसाधन प्रकार

मनुष्य को आकर्षक, सुन्दर और स्वस्थ बनाने वाली सभी साधन प्रविधियां प्रसाधन के अन्तर्गत आ जाती हैं। चरकसंहिता में नित्य-अवश्यकरणीय के रूप में प्रसाधन-संसाधनों का वर्णन है। वहां कहा गया है कि जैसे रक्षी पुरुष नगर की तथा सभी रथ की देखभाल करता है, वैसे ही मेधावी पुरुष को अपने शरीर को प्रसाधित करना चाहिए —

नगरी नगरस्येव रथस्येव रथी यथा।[५]
स्वशरीरस्य मेधावी कृत्येष्वहितो भवेत्॥

शरीर को स्वस्थ और सुन्दर बनाने के लिए अंजन, तैल का नस्य, दन्तधावन, जिह्वानिर्लेखन, मुखशोधन (ताम्बूल) तैल-गण्डूष, सिर पर तैल लगाना, तैलाभ्यंग, पैरों में तैलमालिश, स्नान, निर्मलवस्त्रधारण, गन्ध-माल्य का सेवन, रसधारण, पैरों को बार-बार धोना, बालों को कटवाना, नख कटवाना, जूता पहनना, छाता धारण करना, दण्डधारण करना आदि कार्य प्रतिदिन अवश्यकरणीय हैं।[६]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुश्रुत संहिता में प्रत्येक व्यक्ति को स्वस्थ तथा सुन्दर शरीर के लिए निम्न कार्यों को नित्य आवश्यक कृत्य के रूप में निर्दिष्ट किया गया है — दन्त, आंख, मुख प्रक्षालन, अंजन, ताम्बूल, तैलमालिश परिषेक, बालों में कंघी, व्यायाम, उद्वर्तन (मसाज), उत्सादन (सुगंधित लेप से शरीर को मलना), उद्घर्षण (खुरदरी वस्तु से शरीर को रगड़ना), स्नान, अनुलेप, सुगंधित पुष्प, वस्त्र एवं स्नानादि को धारण करना, आलेप, जूता धारण, केश कल्पना, वारबाण (अंगरखा धारण करना) पगड़ी, दण्डधारा, छाताधारण, बाल व्यंजन (पंखा प्रयोग) एवं संवाहन आदि।

शुक्रनीति में प्रतिदिन के प्रसाधनों का वर्णन है। पुराण-साहित्य में प्रसाधन-प्रभेदों का प्रभूत वर्णन मिलता है। बृहत्संहिता में प्रसाधन सामग्री का विशद-वर्णन है — कस्तूरी, जातीफल, मालती, तमाल, नागकेसर, होणुका, जटामांसी, प्रियंगु, मृणाल, गन्धमूल, पीतचन्दन, हरिद्रा, मंजिष्ठा, यष्ठीमधु, वच, धान्यक, मरुबक, मूर्वा, सर्जरस, गुग्गुल, लाक्षा, आमलक, विभीतक, शुष्ठी, पिप्पली, मरीच, कंकोल, दर्भ, मातुलुंग और यक्ष आदि। अमरकोश में प्रसाधन सामग्री का विस्तार से वर्णन है। वहां पर 'परीकर्मांगसंस्कार:' कहकर प्रसाधन वस्तुओं का वर्णन है।[७] शरीर को स्वच्छ करने के लिए मार्ष्टि-मार्जन, सुगंधित वस्तुओं से शरीर को साफ करने के लिए 'उद्वर्तन-उत्सादन', शरीर पर किए गए चित्रकर्म के लिए पत्रलेखा, पत्रांगुलि, तमालपत्र तिलक, चित्रक एवं विशेषक आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। स्तनों और कपोलों पर लेप लगाने के लिए कुंकुम, 'कश्मीरजम्' आदि शब्द आए है।[८] इसी तरह प्रसाधन सामग्री चन्दनादि का उल्लेख है।[९]

वात्स्यायनकृत कामसूत्र में स्त्री और पुरुष प्रसाधनों का विस्तार से वर्णन है। बौद्धग्रंथ 'ब्रह्मजालसुत्त' में प्रसाधन का वर्णन है —

१. उत्सादन (सुगंन्धित वस्तुओं का शरीर पर लेप)।
२. परिमर्दन (मलना, दबाना, चापी मारना)।
३. स्नान।
४. संवाहन (शरीर को एक विशेष प्रकार से धीरे-धीरे दबाना)।
५. आदर्श-दर्पण में मुख देखना।
६. अंजन — आंखों में सुरमा लगाना।
७. माल्यविलेपन — माला धारण एवं सुगंधित द्रव्यों को लगाना।
८. मुखचूर्णक (पावडर)।
९. मुखालेपन — मुख पर सुगंधित लेप लगाना।
१०. हस्तबन्ध — हाथों के कंकण पहनना।
११. शिखाबन्धन — बालों को सजाना सवांरना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१२. दण्डक — छड़ी लेना।

१३. नालिका — एक प्रकार का अस्त्र विशेष।

१४. खंड — तलवार।

१५. छत्र

१६. उपानह

१७. उष्णीष

१८. मणि (रत्नधारण)

१९. बालव्यजन (पंख या चंवर धारण)

२०. उदातानी दिग्दर्शनी

कालिदास कृत मेघदूत के टीकाकार मल्लिनाथ ने चार प्रकार के शृंगार या प्रसाधनों का वर्णन किया है —

कचधार्यं देहधार्यं परिधेयं विलेपनम्।[१०]
चतुर्धा भूषणं प्राहुः स्त्रीणामन्यच्च देशिकम्॥

१. अर्थात् कचधार्य — वेणी या केशरचना, केशों को संवारना।

२. देहधर्म — शरीर का शृंगार करना।

३. परिधेय — वस्त्रों की सजावट।

४. विलेपन — अनेक प्रकार के अंगराग, उबटन, तेल, इत्र आदि लगाना, जिससे शारीरिक सौन्दर्य की वृद्धि हो सके।

षोडश शृंगार

मनुष्य की अपेक्षा स्त्रियां प्रसाधन का अत्यधिक उपयोग करती हैं, इसलिए उनके प्रसाधन सामग्री का प्राचीन काल से ही आधिक्य रहा है। सौभाग्यवती अपने पति के सौभाग्य की कामना करती हुई हल्दी, केसर, सिन्दूर, कज्जल, आंगी (कञ्चुक), तांबूल, मांगलिक-आभूषण, बालों को संवारना, सिर, हाथ और कानों के आभूषण को धारण करती थी, बाद में इन्हीं वस्तुओं को शृगार नाम दे दिया गया तथा इनकी संख्या सोलह स्वीकृत किया गया। भगवान की षोडशोपचार पूजा की जाती है, संस्कारों की संख्या षोडश है, स्त्रियों में चन्द्रकला के स्थान सोलह मानते हैं, इसलिए शृंगारों की संख्या भी सोलह रखी गई होगी।

वल्लभदास की सुभाषितावली[११] में सोलह शृंगार के नाम इस प्रकार है —१. मज्जन, २. चीर, ३. हार, ४. तिलक, ५. अंजन, ६. कुण्डल, ७. नासामौक्तिक, ८. केशपाशरचना,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९. कंचुक, १०. नूपुर, ११. सुगन्ध (अंगराग), १२. कंकण, १३. चरणराग (आलक्तक), १४. मेखलारणण (क्षुद्रघंटिका), १५. ताम्बूल, १६. करदर्पण।

'उज्ज्वरलनीलमणि'[१२] के राधा प्रकरण में सोलह शृंगारों का नामोल्लेख इस प्रकार हैं—१. स्नान, २. नासाग्रजाग्रन्मणि (नासा मौक्तिक), ३. असितपट, ४. सूत्रिणी (नीवीबन्धयुक्ता), ५. वेणीबन्धन, ६. कर्णावतंस, ७. अंगों को चर्चित करना, ८. पुष्पमाला धारण करना, ९. हाथों में कमल लेना, १०. बालों में पुष्प लगाना, ११. ताम्बूल, १२. चिबुक को कस्तूरी से चित्रित करना, १३. काजल, १४. शरीर को चित्रित करना, १५. आलक्तक, १६. तिलक।

जैनागमों में प्रसाधन कला का सुन्दर वर्णन मिलता है। संक्षेप में विवेचन अधोविन्यस्त है:-

१. स्नान

'स्ना-शौचे'[१३] धातु से ल्युट् प्रत्यय करने पर स्नान शब्द बनता है। जिससे पवित्र होता है, वह स्नान। अमरकोशकार ने आप्लाव, आप्लव और स्नान को पर्याय वाचक माना है।[१४] मज्जन, अवगाहन, अभिषेक, उपस्पर्शन, सवन, सर्जन आदि शब्द भी स्नान के पर्याय माने जाते है।[१५]

भारतीय संस्कृति में स्नान का महत्त्वपूर्ण स्थान है। स्नान प्रतिदिन की नित्य-क्रिया का प्रमुख-कृत्य है। चरकसंहिता में स्नान की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि स्नान करने से शरीर की दुर्गन्ध, शरीर में भारीपन (आलस्य), तन्द्रा, कण्डू, मैल, भोजन या काम में अनिच्छा, पसीने की वीभत्सता आदि नष्ट हो जाती है। स्नान करना पवित्र, वृष्य, आयुवर्धक, श्रम-स्वेद-मल को दूर करने वाला है। शरीर में बलवृद्धि करता है तथा ऊर्जा को बढ़ाता है।[१६]

जैनागम साहित्य में अनेक स्थलों पर अभिषेक (अभिसेअ, अभिसेग और अभिसेय), मज्जन (मज्जण), स्नान (ण्हाण) आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है। ज्ञाताधर्मकथा के नवम अध्ययन में पुष्कर-(पोखरे में) स्नान का वर्णन मिलता है। माकंदी पुत्र स्नान पूर्व शरीर में तैलमालिश कर पोखरिणी में स्नान करते हैं — अण्णमण्णस्स गायाइं अब्भंगेंति, पोक्खरणीओ ओगाहेंति जलमज्जणं करेंति।[१७] अर्थात् माकंदी पुत्रों ने परस्पर एक दूसरे को तैलमालिश किया, मालिश कर बावड़ी में प्रवेश किया, प्रवेश कर स्नान किया, स्नान कर बाहर निकले।

ज्ञाताधर्मकथा के तेरहवें अध्ययन के अन्तर्गत नन्दा पुष्करिणी के वर्णन के अवसर पर स्नान और स्नान के फल श्रम-स्वेद-खेदादि का अपमार्जन का भी वर्णन है। चरकसंहिता में निर्दिष्ट स्नान फल की साम्यता यहां देखी जा सकती है —

तए णं तीए णंदा पोक्खरिणीए·····सुहंसुहेणं विहरंति।·····जलरमण-विहिमज्जण·····विहरइ। बहुजणो ण्हायमाणो·····।[१८]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपासकदशाध्ययन सूत्र में गाथापति आनन्द आठ जलघटों से स्नान करता है। वहां के प्रसंग में ऐसा पता चलता है कि उस समय अनेक प्रकार की स्नान-विधियां (मज्जनविधियां) प्रचलित थी, क्योंकि आठ घड़ों के जल से स्नान के अतिरिक्त स्नानविधियों का वह परित्याग करता है —नन्नत्थ अट्ठहिं उट्टिएहिं 'उदगस्स द्यडेहिं, अवसेसं सव्वंमज्जणविहि पच्चक्खाइ।[२९]' यहां पर प्रयुक्त 'मज्जणविहि' शब्द का ज्ञाताधर्मकथा १.१.२४ तथा १.१६.१४० में भी प्रयोग है।

वहीं ज्ञाता. के सोलहवें अध्ययन में कृष्णवासुदेव के स्नान का वर्णन है। वहां भी चार प्रकार के जल से मंगलकारक स्नान का निर्देश है।[३२] विपाकसूत्र[३३] में तीन प्रकार के जल-उष्णोदक, शीतोदक एवं गंधोदक से स्नान का वर्णन है।

स्नानगृह—आगम साहित्य में स्नानगृह का भी सुन्दर वर्णन मिलता है। भगवती सूत्र में 'मज्जणर'[३०] का प्रयोग है। ज्ञाताधर्मकथा में भी मज्जनघर का वर्णन है — ज्ञाताधर्मकथा में स्नानपीठ पर बैठकर चार प्रकार के जल से — शुभजल, पुष्पमिश्रितजल, सुगंधमिश्रितजल और शुद्धजल से मंगलसाधक स्नान का वर्णन है।

ण्हाणपीढंसि सुहणिसण्णे सुहोदएहिं गंधोदएहिं पुप्फोदएहिं, सुद्धोदएहिं पुणो पुणो कल्लाणग-पवर-मज्जणविहीए मज्जिए।[३१] वहीं अनेक स्थलों पर स्नानगृह का वर्णन है। प्रथम अध्ययन श्रेणिकराजा के उत्तम स्नानगृह का वर्णन है। सोलहवें अध्ययन में कृष्णवासुदेव और द्रौपदी के स्नानगृह का निरूपण है। राजाश्रेणिक का स्नानगृह अत्यन्त सुन्दर था। विविध प्रकार के रत्नमणियों के फर्श बने हुए थे। नाना प्रकार के मणियों से चित्रित स्नानपीठ से स्नानगृह सुशोभित था।[३४] ऐसा ही वर्णन कृष्णवासुदेव के स्नानगृह का मिलता है।[३५]

मज्जनधात्री

युवतियों को स्नान कराने वाले दासियों का वर्णन भी मिलता है। उन्हें मज्जनधात्री (मज्जणधाई) कहा जाता था। आचारचूला में भगवान् के पांच धाइयों में एक 'मज्जणधाई' का उल्लेख है — खीरधाईए, मज्जणधाइए, ममडावणधाईए, खेल्लावणधाईए, अंकधाईए।[३६] ज्ञाताधर्मकथा में मेघकुमार की पंचधात्रियों में एक 'मज्जणधाई' भी है।[३७] वहीं पर सुकुमालिका के पंचधाईयों में एक 'मज्जणधाई' का वर्णन है।[३८]

२. अभ्यंगन

मालिश, लेप, तैलमालिश आदि को अभ्यंगन कहा जाता है। शरीर पर तैलमालिश से मनुष्य में बल आता है, त्वचा सुन्दर हो जाती है। जिस प्रकार घड़ा तैल या घी लगाने से मजबूत होता है और पहिए पर तैल लगाने से ठीक काम करता है, उसी प्रकार शरीर पर तैल लगाने से त्वचा दृढ़ और सुन्दर बनती है। स्पर्शन त्वचा का कार्य है, स्पर्शज्ञान का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कारण वायु है, इसलिए वायु को शांत करने के लिए तैलमालिश सर्वश्रेष्ठ है। जो व्यक्ति प्रतिदिन तैलमालिश करता है, वह सुन्दर त्वचा वाला, बलवान्, प्रियदर्शन और वार्द्धक्यरहित होता है।[२९]

आगम साहित्य में अनेक स्थलों पर तैलमालिश (अभ्यंगन) कला का वर्णन मिलता है। ज्ञाताधर्मकथा के प्रथम अध्ययन में राजा श्रेणिक व्यायामशाला में विविध प्रकार के व्यायामों के आचरण करने से थककर बाहर निकलता है, तो उसके शरीर का शतपाक एवं सहस्रपाक आदि अनेक प्रकार के सुगन्धित तैलों से अभ्यंगन कराया जाता है — सयपागसहस्सपागेहिं·····पडिनिक्खमई।[३०] अर्थात् व्यायाम के पश्चात् शतपाक तथा सहस्रपाक आदि श्रेष्ठ सुगंधित तैल आदि अभ्यंगनों से, जो प्रीति उत्पन्न करने वाले जठराग्नि को दीप्त करने वाले, दर्पणीय (शरीर का बल बढ़ाने वाले, कामवर्धक, मांसवर्धक तथा सभी इन्द्रियों एवं शरीर को आह्लादित करने वाले थे, राजा श्रेणिक ने अभ्यंगन कराया।) उसके बाद अस्थियों को सुखकारी, मांस को सुखकारी, त्वचा को सुखकारी तथा रोगों को सुखकारी, इस तरह चार प्रकार के संवाहन से राजा श्रेणिक के शरीर का मर्दन किया गया। उबटन लगाया गया। इस तैलमालिश, चतुर्विध संवाहन (धीरे-धीरे विशेष प्रकार से शरीर दबाना) तथा उबटन आदि के द्वारा श्रेणिक का परिश्रम दूर हो गया। यहां पर न केवल अभ्यंगन एवं संवाहन का सामान्य वर्णन है बल्कि उससे होने वाले लाभ का भी सुन्दर चित्रण है। यह प्रसंग चरक, सुश्रुत आदि से तुलनीय है।

उपासकदशाध्ययन[३१] में अभ्यंगन[३२] उव्वट्टण[३३], विलेपन[३४] आदि का वर्णन है। इस प्रसंग से ऐसा लगता है कि उस समय अभ्यंगनादि का प्रभूत प्रयोग होता था। आगम-साहित्य में अन्यत्र भी अनेक स्थलों पर अभ्यंगनादि का वर्णन है।

३. उव्वट्टण

शरीर को साफ, चमकदार और आकर्षक बनाने के लिए प्राचीनकाल से ही 'उव्वट्टण' का प्रयोग होता आया है। उबटन (उव्वट्टण) कफहर, मेदोहर, अंगों को स्थिर करने वाला तथा त्वचा को प्रसन्न करने वाला होता है —

उद्वर्त्तनं कफहरं मेदसः प्रविलापनम्।
स्थिरीकरणमङ्गानां त्वक् प्रसादकरं परम्॥[३५]

आगम-साहित्य में प्रमुख प्रसाधन-द्रव्यों में इसका प्रयोग होता था। शरीर की कांति को संवर्धित करने, शरीर को सुशोभित एवं परिश्रम को दूर करने के लिए अनेक प्रकार के सुगन्धित द्रव्यों से बने उबटनविधि का प्रयोग किया जाता था। इसमें हल्दी, सरसों, चंदन, तिल, वच आदि को दूध या पानी में भिगोकर, पीसकर एवं तैल में मिलाकर शरीर पर लगाया जाता था। अनेक सुगंधित द्रव्यों का भी प्रयोग होता था। स्थानांग, ज्ञाताधर्म,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपासकदशाध्ययन आदि में उव्वट्टण (उबटन) का वर्णन है। स्थानांग में पुत्रद्वारा पिता को सुगंधित उबटन लगाने का वर्णन है।[३६] ज्ञाताधर्म में अनेक स्थलों पर उबटन का उल्लेख है। विवाह के पूर्व उबटन की प्रथा आज जैसे ही आगमकाल में प्रचलित थी। सुकुमालिका के दमग (दरिद्र पुरुष) के साथ पुनर्विवाह के अवसर पर दमग का शतपाक सहस्रपाक तैलों से अभ्यंगन, सुगंधित गंध-उबटन/श्रेष्ठ उबटन का लेप कर उष्णजल एवं सुगंधित जल से स्नान कराया गया था।[३७] उपासकदशाध्ययन में गंधोद्वर्तन (सुगंधित उबटन) का वर्णन है।[३८] गाथापति आनन्द एक सुगंधित उबटन को छोड़कर अन्य उबटनविधि का परित्याग कर देता है। विपाकसूत्र में तैल-अभ्यंगन, चतुर्विध संवाहन एवं सुगंधित उबटन से लेप के अनन्तर तीन प्रकार के जल — उष्णोदक, शीतोदक एवं गन्धोदक से स्नान का वर्णन है।[३९] विपाकसूत्र में अन्यत्र भी उबटन का वर्णन मिलता है।

४. संवाहन

संवाहन एक प्राचीन कला है। शरीर को धीरे-धीरे एक विशिष्ट रीति से दबाना संवाहन है। इस कला में निष्णात को संवाहक कहा जाता था। मृच्छकटिक में एक श्रेष्ठ कला के रूप में स्वीकृति प्रदान की गई है। संवाहक (पात्रविशेष) चारुदत्त की सेवा में नियुक्त था। चरक, सुश्रुत आदि ग्रंथों में 'संवाहन' को स्वास्थ्यप्रद कहा गया है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में प्रसाधन कार्य में निपुण व्यक्तियों के अन्तर्गत संवाहक का उल्लेख है।[४०]

आगमसाहित्य में अनेक स्थलों पर संवाहन कला का वर्णन है। ज्ञाताधर्मकथा, विपाकसूत्र आदि में चार प्रकार के संवाहन का वर्णन है —अट्ठिसुहाए, मंससुहाए, तयासुहाए, रोमसुहाए, चउव्विहाए, संवाहणाए संवाहिए।[४१] वस्तुतः उपर्युक्त भेद संवाहन के लाभ को इंगित करते हैं।

५. नेत्रप्रसाधन

शरीर में नेत्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'नी' धातु से 'दाम्नीशसेति'[४२] से करण में ष्ट्रन् प्रत्यय करने पर 'नेत्र' शब्द बनता है। नीयते नयति वानेनेति, जो ले जाता है, पथदर्शक होता है, वह नेत्र है। नेत्र की महत्ता को ध्यान में रखकर ही उसकी सुरक्षा पर अत्यधिक बल दिया जाता है। नेत्र के दो भाग होते हैं — एक काला भाग और दूसरा स्वच्छ भाग। ये दोनों भाग जितने ही स्वच्छ, चमकदार और बड़े होते हैं, उतने ही उत्तम माने जाते हैं। आंखों का सौंदर्य उनके काले और श्वेत भाग के स्पष्ट होने पर ही होता है। चरक का निर्देश है — व्यक्तभागेविभागे।[४३] यह काम अञ्जन और सुरमें से संभव होता है।

१. अंजन — आचार्य चरक ने अंजन के महत्त्व को उद्घाटित किया है।[४४] जिस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार निर्मल आकाश में चन्द्रमा चमकता है, उसी प्रकार अंजन-आश्च्योतन आदि से निर्मल आंखों में दृष्टि चमकती है। आयुर्वेद में अंजन के चार प्रकार बताए गए हैं — लेखन, रोपण, स्नेहन और प्रसादन। इनके मधुर को छोड़कर शेष पांच रसों — अम्ल, लवण, तिक्त, कटु, कषाय आदि से लेखन अंजन, तिक्त और कषाय को स्नेह के साथ मिलाकर रोपण अंजन बनाते हैं। रसशास्त्र में अंजन के पांच प्रकार हैं — स्रोताञ्जन, सौवीराञ्जन, रसाञ्जन, नीलाञ्जन, पुष्पाञ्जन।

भारतीय साहित्य — संस्कृत, प्राकृत में अंजन का वर्णन प्राचीन काल से ही मिलता है। कालिदास आदि कवियों ने अपनी नायिकाओं के सौन्दर्य-संवर्द्धन के लिए 'अंजन' का प्रभूत प्रयोग किया है।

आगम साहित्य में अंजन का अनेक स्थलों पर वर्णन मिलता है। आचारचूला में अंजन शब्द का प्रयोग है — अंजण संसट्ठेण।[४५] सूत्रकृतांग में अनेक स्थलों पर अंजन एवं अंजन से सम्बद्ध सामग्री — अंजनशलाका आदि का वर्णन है। अंजन पात्र को अंजनी कहते हैं—अंजणि[४६], अंजणसलागं[४७], अंजणं[४८]। प्रस्तुत संदर्भ में महाव्रती भिक्षुओं के लिए अंजण प्रयोग का निषेध किया गया है। स्थानांग में पर्वत के नाम के लिए अंजण और मातंजण का उल्लेख है।[४९] ज्ञाताधर्मज्ञाता[५०] में अंजनरत्न और अंजनपुलकरत्न का वर्णन है।

अंजन के समान ही काजल आंखों के लिए उपयोगी होता है। अंजन से अधिक कालिमा काजल में होती है। बच्चों की आंखों में प्राय: काजल ही लगाया जाता है। काजल प्राय: उंगली से ही लगाया जाता है। काजल को तेल से पारते हैं।

२. काजल — भारतीय साहित्य में प्राचीनकाल से ही काजल का प्रयोग देखा जाता है। संस्कृत साहित्य में नायिकाओं की शोभासंवर्द्धन के लिए काजल का प्रयोग किया जाता था। शौभाग्यवती स्त्रियां काजल को एक मांगलिक द्रव्य के रूप में प्रयोग करती हैं। कालिदास की पार्वती ने अपनी नील-कमल जैसी बड़ी-बड़ी और काली आंखों में मंगल चिह्न के रूप में काजल लगाया था।

तस्याः सुजातोत्पलपत्रकान्ते प्रसाधिकाभिर्नयने निरीक्ष्य।
न चक्षुषो कान्तिविशेषबुद्धया कालाञ्जनं मंगलमित्युपात्तम्।।[५१]

आगम-साहित्य में अनेक स्थलों पर काजल का उल्लेख मिलता है — ज्ञाताधर्मकथा में जात्यंजन (श्रेष्ठ) के साथ-साथ काजल का वर्णन है।

जच्चंजण.....कज्जल.....।[५२]

यहां कज्जलमेघ के उपमान के रूप में प्रयुक्त है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६. केश प्रसाधन

शारीरिक सौन्दर्य की दृष्टि से केशों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। लम्बे, आगे से घुंघराले, काले, पतले एवं कोमल केश अत्यधिक प्रशंसनीय माने गए हैं। अमरकोश कार ने चिकुर, कुंतल, बाल, कच, केश, शिरोरुह, कैशिक, कैश्य, अलक आदि शब्दों को पर्याय के रूप में निर्देश किया है।[५३] बालों को काला, कोमल और स्निग्ध बनाने के लिए अगरु का धूप और आमलक का उपयोग प्राचीन काल से ही होता था। आगम साहित्य में काले केशों को श्रेष्ठ माना गया है। काले केश समयानुसार सफेद (पलित) हो जाते थे —

किण्हा केसा पलिया भवंति।[५४]

अगरु, धूप, आमलग, चंदन, वच आदि का केश को सुगंधित एवं सुन्दर बनाने के लिए प्रयोग किया जाता था।

७. विलेपन

यह १९ वीं कला के रूप में ज्ञाताधर्म में निर्देश है। औपपातिक एवं राजप्रश्नीय में भी १९ वीं कला के रूप में इसका निर्देश है।

प्राचीन काल में स्नान के उपरान्त शरीर की सुगन्धी, चमक एवं सौन्दर्यवृद्धि के लिए विलेपन की प्रथा थी। विलेपन में शरीर पर सुगंधित द्रव्यों की लेप की जाती थी। विलेपन स्त्री और पुरुष दोनों वर्गों में समान रूप से प्रचलित था। स्नान के उपरान्त प्रतिदिन स्त्री-पुरुष विलेपन कराते थे। विलेपन के लिए दासदासियां होती थी। प्रतिदिन के अतिरिक्त किसी उत्सव विशेष पर विशिष्ट अंगराग-विलेपन लगाने की प्रथा थी।

विलेपन द्रव्यों में हल्दी, चन्दन, केसर, कस्तूरी, कर्पूर, श्वेत अगरु, गोरोपना आदि का उपयोग किया जाता था। चन्दन और कर्पूर ठण्डे हैं, केसर गर्म है, किन्तु केसर का भी पतला लेप ठंडक देता है। अतिपुत्र (चरक) का निर्देश है —

चन्दनागुरुदिग्धाङ्गो यवगोधूमभोजनः।[५५]

शरीर पर बसन्त ऋतु में चन्दन और अगरु को मिलाकर विलेपन किया जाता है आर जौ-गेहूं का भोजन काम्य होता है। ग्रीष्म में केवल चन्दन तथा हेमन्त में केवल अगरु का लेप करने का निर्देश है — भजेच्चन्दनदिग्धाङ्गः, आलिंग्यागुरुदिग्धाङ्गीम्।

हरीचन्दन और गोपीचन्दन का लेप की हुई स्त्रियां यदि मन के अनुकूल हों तो प्यास, दाह और मूर्च्छा को नष्ट करती हैं। कालिास के कुमारसंभव में सखियां पार्वती के शरीर पर सुन्दर एवं सुगंधित द्रव्यों का लेप करती है —

विन्यस्तशुक्लागुरु चक्रुरङ्गं एवं गोरोचना पत्रविभक्तमस्याः।
सा चक्रवाकाङ्कितसैकतायास्त्रिस्त्रोतसः कान्तिमतीत्य तस्थौ॥[५६]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् किसी स्त्री ने श्वेत अगरु से बना अंगराग को पार्वती के शरीर पर मला और फिर गोरोचन से उसके शरीर पर चित्रकर्म किया। जिस गंगा के किनारे की बालू में चकवे बैठे हों वह श्वेत धारा वाली गंगा भी पार्वती के शरीर के सामने फिकी लग रही थी।

भगवान् महावीर के शरीर में दीक्ष पूर्व विभिन्न प्रकार के सुगंधित द्रव्यों का लेप किया गया था, जिसके कारण दीक्षोपरान्त (मुनि-जीवन में) बहुत से भंवरे आदि सुगंध से आकर्षित होकर उनके शरीर को डस लेते थे।[५७]

सूत्रकृतांग में अनेक स्थलों पर वर्णक (चंदन का विशष्ट अंगराग), विलेपन तथा सुगंधित पुष्पमालाओं का वर्णन है — वण्णग-विलेवण……[५८] भगवतीसूत्र में अनेक बार विलेपण का निर्देश है।[५९] ज्ञाताधर्मकथासूत्र में विशिष्ट प्रकार के विलेपण का उल्लेख है। वही पर अगरु पुष्पमाल्यादि श्रेष्ठ सुगंधित द्रव्यों के साथ विलेपन का वर्णन है —

अगरुवर-पवरधूवण उउयमल्लाणुलेवणविहीसु।
गंधेसुरज्जमाणा रमंति घाणिंदिय-वसट्टा।।[६०]

सरस और सुरभित श्रेष्ठ गोशीर्ष चंदन के बने वर्णक (अंगराग) और विलेपन से श्रेणिक राजा के शरीर को लिप्त किया जाता था। सरस सुरभि-गोसीस-चंदणाणुलित्त गत्त सुइमालावण्णगविलेपणे।[६१]

वर्णक-विलेपन का अन्यत्र भी निर्देश है। संयमियों के लिए इसका निषेध था।[६२] उपासकदशाध्ययन सूत्र में अनेक स्थलों पर विलेपनविधि का उल्लेख है। गाथापति आनंद अगरु, कुंकुम और चंदनादि से बने विलेपन को छोड़कर अन्य विलेपन विधियों का परित्याग कर देता है।[६३] भगवान के पास जब जाता है तो आभूषण विलेपनादि का परित्याग कर जाता है।[६४] अन्यत्र अन्य उपासकों के लिए भी ऐसा ही वर्णन है। द्वितीय अध्ययन में देव के दिव्यविलेपन का भी उल्लेख है।[६५]

अन्य आगम ग्रंथों में भी अनेक स्थलों पर विलेपन एवं विलेपनविधि शब्द का प्रयोग हुआ है। औपपातिक के कूणिक राजा द्वारा सुगंधित विलेपन के द्वारा शरीर को लेपन कराये जाने का सुन्दर वर्णन है। स्नानादि के बाद राजा कूणिक सरस सुरभित गोशीर्षचन्दन का विलेपन कराता है।[६६] औपपातिक सूत्र में ही अन्यत्र भी 'वण्णग विलेवण' शब्द का उल्लेख है।[६७] वहीं पर गंध-समुद्गत विलेपन को महासौख्य का प्रतीक माना गया है।[६८] वहीं पर पुरुषों की १९ वीं कला के रूप में विलेपन विधि का निर्देश है।[६९] जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति में भरत राजा का विलेपन विधान निर्दिष्ट है।[७०] व्रत धारण काल में भरतराजा द्वारा विलेपन का परित्याग कर दिया जाता है।[७१] इस प्रकार आगम साहित्य में 'विलेपन-कला' का प्रभूत चित्रण मिलता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुष्प एवं लता

प्रसाधन में उपयोग किए जाने वाले अनेक पुष्पों एवं लताओं का आगम साहित्य में उल्लेख मिलता है। संक्षिप्त में नामनिर्देश इस प्रकार है—

अइमुत्तकलया (माधवीलता जीवा. ३.५८४, जं. २.११), अगरु-अगर (राजवार्तिक ३०), अत्तिमुत्त-कस्तुरीमोगरा (जीवा ३.२९६), असोग-अशोक (भ. २२.२, जीवा. १.७१., प. १.३५.३), कच्छा-भद्रमुस्त-मोथा (प्र. १.४६), करीर-केर-करील (प्र. १.३७.४), उसीर-खस (रा. ३० जीवा. ३.२८३), कदंब-कदम (औ. ९, जीवा. ३.५८३), कप्पूर-कपूर (रा. ३० जीवा. ३.२८३), कल-गोलोचना (स्था. ५.२०९, भग. ६.३०), कुंकुम-केशर (रा. ३० जीवा. ३.२८३), कुंद (भग. २२.५, रा. २९), ग्रीवा, कुरुविंद-नागरमोथा (प्र. १.४२.२) केतकि, केतगि, केयइ- केवड़ा (जीवा. ३.२८३, रा. ३०, भ. २२.१), कोकणद-लालकमल (प्र.१.४६), कोद्दालक-कोविदार (जीवा. ३.५१२), चंदण (भ. २२.३, ओ.९, रा. ३०), चंपअ-चंपक (स्था. ८.११७.२, जीवा ३.५८०), जाई-चमेली (प्र. १.३८.२), जावति-जावित्री (भ. २२.१), जासुअण, जासुमण जासुवण-जवाकुसुम (रा. २७, प्र. १.४०.३, प्र. १.३७.१), जूहिया-जूही (रा. ३०), डब्भ-सफेद-दूब (प्र. १.४२.१), णीलुप्पल, नीलकमल (रा. २६), तगर (रा. ३०), तिमिर-मेहंदी (भ. २१.१८), तुलसी (स्था. ८.११७.१, प्र. १.४४.३) देवदारु (प्र. १.४०.२), बउल-मौलसिरी (भ. २२.२, प्र. १.३५.१), भद्दमुत्था, भद्दमोत्था-मोथा (भ. २३.८), मगदंतिया-मालती (प्र. १-३८.२), मोग्गर-मोगर (प्र. १.३८.२) सरिसव-सरसो (भ. २१.१६, प्र. १.४५.२), सुभग-कमल (जीवा. ३.२८६), सुभगा-सेवती गुलाब (प्र. १.४०.२), हरियाल-दूब (रा. २८), हलिद्दा (जीवा. ३.२८), हलिद्दी (उत्तरा. ३४.८), हलिद्दा-हल्दी (रा. २८)।

उपर्युक्त पदार्थों का प्रसाधन-शरीर एवं मुख के उबटन, विलेपन, अंगराग आदि में प्रयोग होता है। पुष्पों को स्त्रियां अपने बालों में धारण करती हैं, माला का भी निर्माण होता है। इस प्रकार जैनागम साहित्य में प्रसाधन का प्रभूत वर्णन मिलता है। प्रसाधन-कला पर स्वतंत्र शोधकार्य की आवश्यकता है।

संदर्भ सूची

१. अभिज्ञानशाकुन्तल १.१८
२. संस्कृत - हिन्दी धातुकोष, पृ. १३०
३. कर्पूरमंजरी १.२७
४. तत्रैव ३.२
५. चरक सूत्र अ. ५.१०३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६. तत्रैव अ. ५.१४
७. अमरकोश २.६.३.२२-४१
८. तत्रैव २.६.३.२२-२४
९. तत्रैव २.६.३.२५-३३
१०. मेघदूत पर मल्लिनाथ की टीका
११. सुभाषितावली
१२. उज्ज्वल नीलमणि
१३. संस्कृत-हिन्दी धातु कोष, पृ. १३६
१४. अमरकोश २.६.२३
१५. शब्द कल्पद्रुम, भाग-५, पृष्ठ ४५२
१६. चरकसूत्र अ. ५
१७. ज्ञाताधर्मकथासूत्र ९-११ अंगसुत्ताणि भाग-३, पृष्ठ २०७
१८. तत्रैव १.१३.२४-२५ अंसु-३, पृष्ठ २४१-२४२
१९. उपासकदशाध्ययनसूत्र १.२९ अंसु-३, पृष्ठ ४०२
२०. भगवतीसूत्र ७.१७६, १८५, १९६, ९.१६२, ११.१३८, १५१, अंसु-२
२१. ज्ञाताधर्मकथासूत्र १.१.२४, अंसु-३, पृष्ठ १०-११
२२. तत्रैव १.१६.१४०, अंसु (अंगसुत्ताणि)-३, पृष्ठ २९९
२३. विपाकसूत्र ९.५०, अंसु-३, पृष्ठ ७९६
२४. ज्ञाता. १.१.२४
२५. तत्रैव १.१६.१४०
२६. आचारचूला १५.१४, अंसु-१, पृष्ठ २३४
२७. ज्ञाता. १.१.८२
२८. ज्ञाताधर्मकथासूत्र १.१६.३६
२९. चरकसूत्र अ. ५.८५-८९
३०. ज्ञाताधर्मकथासूत्र १.१.२४, अंसु-३, पृष्ठ १०
३१. उपासकदशा १.२९ अंसु-३, पृष्ठ ४०१-४०२
३२. तत्रैव १.२९.४
३३. तत्रैव १.२९.५
३४. तत्रैव १.२९.८
३५. संग्रहसूत्र अ. ३.६९
३६. स्थानांगसूत्र ३.८७
३७. ज्ञाताधर्मकथासूत्र १.१६.७८, अंसु-३, पृष्ठ २८७
३८. उपासकदशासूत्र १.२९, अंसु-३, पृष्ठ ४०१
३९. विपाकसूत्र ९.५०, अंसु-३, पृष्ठ ७९५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४०. अर्थशास्त्र (कौटिल्य १.२१.१८)
४१. ज्ञाताधर्मकथासूत्र १.१.२४, असुं-३, पृष्ठ १० विपाकसूत्र १.९.५०, पृष्ठ ७९५
४२. पाणिनि अष्टाध्यायी ३.२.१८२
४३. चरकसूत्र शा. अ. ९.५५
४४. चरकसूत्र अ. ५.१५-१७
४५. आचारचूला १.७२, ७३, अंसु-१
४६. सूत्रकृतांग १.४.३८
४७. तत्रैव १.४.४१
४८. तत्रैव २.१.५९, २.२.४३, २.४.२३
४९. स्थानांग सूत्र ४.३११
५०. ज्ञाताधर्मकथा १.१.५६
५१. कुमारसंभव ७.२०
५२. ज्ञाताधर्मकथासूत्र १.१.३३, अंसु-३, पृष्ठ १५
५३. अमरकोश २.६.४६-४७
५४. सूत्रकृतांग २.१.५२, २.२.३६, अंसु-१
५५. चरकसूत्र अ. ६.२५
५६. कुमारसंभव ७.१५
५७. आचारांग १.१.९.१.३
५८. सूत्रकृतांग २.२.५८, ६३, ७१, अंसु-१, पृष्ठ ३९०, ३९३, ३९७
५९. भगवतीसूत्र ६.१७३, ७.२५, १२.६, ११.३
६०. ज्ञाताधर्मकथासूत्र १.१७.३६.५, अंसु-३, पृष्ठ ३४४
६१. तत्रैव १.१.२४, अंसु-३, पृष्ठ ११
६२. तत्रैव १.१३.१४, अंसु-३, पृष्ठ २३८
६३. उपासकदशा १.२९, अंसु-३, पृष्ठ ४०२
६४. तत्रैव १.६०, अंसु-३, पृष्ठ ४१३
६५. तत्रैव २.४०, अंसु-३, पृष्ठ ४३१
६६. औपपातिकसूत्र ६३, उवंगसुत्ताणि-१, पृष्ठ ३९
६७. तत्रैव १६१, उवंगसुत्ताणि-१, पृष्ठ ६९
६८. तत्रैव १७०, अंसु-१, पृष्ठ ७२
६९. औपपातिकसूत्र १४६, उवंगसुत्ताणि-१, पृष्ठ ६५
७०. जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति १.९, उवंगसुत्ताणि-२, पृष्ठ ४०७
७१. तत्रैव ३.२०, ३३, ५४, ६३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वप्नों का रहस्यमय संसार

—समणी सत्यप्रज्ञा

यथार्थ की दुनिया से हटकर भी व्यक्ति की कोई दुनिया होती है। दुनिया का सम्बन्ध तभी सहने योग्य होता है जब बीच-बीच में वह उससे अलग होता रहे और उस अलग दुनिया का एक नाम स्वप्न है। समय-समय पर विविध लोग स्वप्नों का अनुभव करते हैं और उनकी विस्तृत स्मृति भी रखते हैं। वे उत्तेजक, व्यवघातक और कुछ सामान्य पहेलीनुमा हो सकते हैं। जो भी हो, वे क्या हैं? क्या उनका कोई अर्थ होता है? क्या वे हमारे भय और प्रेरणाओं को समझने के लिए कोई विशेष चाबी का काम करते हैं? क्या वे हमारी गहन इच्छाओं, भय, कुंठाओं को व्यक्त करते हैं, जिन्हें हम 'व्यक्तिगत चेहरा' कहते हैं? इन्हीं सब प्रश्नों ने स्वप्न-मनोविज्ञान को जन्म दिया।

स्वप्न निद्रावस्था का गतिशील अनुभव है। जब इन्द्रियाँ अपने विषय से निवृत्त होकर प्रशांत हो जाती हैं और मन इन्द्रियों में लगा रहता है तब व्यक्ति स्वप्न देखता है। यह संवेदनाओं से, अवदमित इच्छाओं से तथा मानसिक स्थितियों से रंगा होता है। इसे निद्रागत विचारों व कल्पनाओं की श्रृंखला कहा जा सकता है। हर प्राणी सोता है और यह नींद हमेशा अनेक रहस्यों से भरी दिखाई देती है। नींद के समय अवचेतन के माध्यम से स्वप्न व्यक्त होते हैं। Kleitman के अनुसार 'One dream as one think' स्वप्न प्रायः दृश्य के रूप में होते हैं। अमूर्त विचार स्वप्न में मूर्तिमान किए जाते हैं। हम जितना वास्तविक रूप में अनुभव करते हैं, स्वप्न उससे अधिक स्पष्टता से हमारे बारे में प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं। स्वप्नद्रष्टा ही स्वप्न का मुख्य पात्र होता है। जैसे रेडियो की तरंगें पूरे वायुमण्डल में तैरती रहती हैं, रेडियो के माध्यम से उन्हें ग्रहण कर लिया जाता है। वैसे ही स्वप्न दिन-रात हमारे मस्तिष्क में तैरते रहते हैं। जागरूकता से उन्हें ग्रहण किया जा सकता है। नींद एक क्रिया है, जिसमें व्यक्ति बाहर की दुनिया से लगभग अंधे व बहरे की तरह होकर अन्तर्जगत में विचरण करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रमुख मनोवेत्ता फ्रायड ने स्वप्न को मन में दबी हुई इच्छाओं का परिणाम माना है। दमन किए जाने पर कामनाएँ, इच्छाएँ अचेतन मन का मुख्य अंश बन जाती हैं और स्वप्न में चित्र दृश्यों के रूप में दिखलाई पड़ते हैं। युंग भी फ्रायड के कथन का समर्थन करते हुए कहते हैं—'दमित मानसिक प्रवृत्तियाँ और जातिगत विशेषताएँ स्वप्न में प्रतीक रूप में अभिव्यक्त होती हैं।' स्वप्न के माध्यम से अचेतन मन के भण्डार में दमित इच्छाएँ रहती हैं। ये इच्छाएँ या कामनाएँ ही स्वप्न का आधार बनती हैं।

समुद्र में तैरते बर्फ के पहाड़ (glaciar) का केवल दसवां भाग पानी के ऊपर रहता है और शेष नौ भाग पानी के अंदर छिपा रहता है। उसी तरह मनुष्य के मन का चेतन स्तर उसके मन का बहुत छोटा-सा अंश है। अचेतन मन का एक बड़ा भाग है, जिसकी क्रियाएँ हमसे छिपी रहकर चेतन स्तर की बहुत-सी क्रियाओं को संचालित करती हैं। मनोवेत्ता एडलर ने आत्म-गौरव (Self-assertion) की वृत्ति का संतुष्ट नहीं होना स्वप्न का कारण बताया है। लेकिन इसे स्वप्न की पूर्ण परिभाषा नहीं कहा जा सकता। स्वप्नों का कारण मूल-प्रवृत्तियों का दमन या संघर्ष ही नहीं है, स्वप्न एक स्वाभाविक क्रिया भी है। यथार्थ में स्वप्न मनुष्य की अंतर्भावनाओं के दर्पण होते हैं। एक तरह से ये जीवन की समस्याओं, कल्पनाओं, इच्छाओं व ग्रन्थियों के छायावाहक भी हैं। कोई-कोई स्वप्न ऐसा आता है कि जीवन की सारी उलझनें समाप्त हो जाती हैं, समस्याएँ समाप्त हो जाती हैं। अनुत्तरित प्रश्न उत्तरित हो जाते हैं, असमाहित मन समाहित हो जाता है।

भारतीय मनोविज्ञान में स्वप्न के दो कारण स्वीकार किए गये हैं—

1. शारीरिक कारण—देहस्थ विकार व देह-सम्बद्ध उत्तेजनाएँ स्वप्न के शारीरिक कारण हैं। चरक ने वात-दोष से आकाश में उड़ना, पृथ्वी के चारों ओर घूमना, भय से दौड़ना आदि स्वप्नों की उत्पत्ति बताई है। पित्त-दोष से अग्नि-प्रवेश आदि के स्वप्न तथा कफ-दोष से समुद्र पार करने, नदी में स्नान करने आदि से सम्बद्ध स्वप्नों की संभावनाएँ बताई है। ज्वर से आवेग काल एवं दर्द की अधिकता में प्रायः दुःस्वप्न देखे जाते हैं। देह सम्बद्ध बाह्य उत्तेजनाएँ भी स्वप्नों को प्रेरित करती हैं। जैसे कोई दुर्गन्धयुक्त प्रकोष्ठ में मलिन वस्त्रों को लेकर सोता है तो दुःस्वप्न दिखता है। सुन्दर, शांत, स्वच्छ वातावरण में सोता है तो शुभ स्वप्न देखता है। मुंह ढ़ककर सोने से मलिन वायु अन्तर में प्रविष्ट होकर मस्तिष्क में अप्रिय प्रभाव उत्पन्न करती है। जाग्रत काल में व्यक्ति उसके प्रतिकार की चेष्टा करता है परन्तु शयनकाल में प्रतिकार संभव न होने से वह प्रभाव स्वप्न को प्रेरित करता है। मधुर ध्वनि, सुरभि आदि अच्छे वातावरण से सुखप्रद स्वप्न उत्पन्न होते हैं।

2. मानसिक कारण—बाह्य अनुभवजन्य संस्कार व आन्तरिक इच्छाएँ स्वप्न के मानसिक कारण हैं। अन्य मानसिक क्रियाओं के समान स्वप्न भी एक मानसिक क्रया है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिसका सम्बन्ध हमारे अचेतन मन से है। जागृत दशा में जैसे वस्तु अनुसारी ज्ञान और कल्पना दोनों होते हैं वैसे स्वप्नदशा में भी अतीत की स्मृति, भविष्य की सत्-कल्पना और असत्-कल्पना आदि होते हैं, इसलिए स्वप्न मानसिक ही हैं।

जैनदर्शन के अनुसार स्वप्न का मूल कारण दर्शन मोहनीय कर्म का उदय है। दर्शन मोह के कारण मन में राग और द्वेष का स्पन्दन होता है, चित्त चंचल बनता है। निद्रावस्था में भी यह चंचलता जब शांत नहीं होती तो स्वप्न के रूप में उभर कर आती है। अर्द्ध निद्रित अवस्था में जब प्राणी की इन्द्रियाँ सुप्त होती हैं और मन जागृत होता है, उस समय वह जागृत मन जो शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श इन्द्रियों के विषयों का सेवन करता है, उस मानसिक क्रिया का नाम स्वप्न है। स्वप्न का तात्पर्य अर्द्धनिद्रित अवस्था के मन सम्बन्धी विचार हैं। ज्ञाताधर्मकथा में महारानी धारिणी के स्वप्न का उल्लेख है। उसके द्वारा उत्तम शयनगार में सुरम्य-सुरभित वातावरण में उत्तम स्वप्न दर्शन से इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है। महारानी धारिणी जब सुन्दर शय्या पर, अनुकूल वातावरण में सो रही थी तब पूर्व संचित शुभ कर्मों के योग से व उसके अन्तर्मानस की उदात्त आकांक्षा से उसने सात हाथ ऊँचा, रजतकूट चाँदी के शिखर के समान श्वेत, सौम्य-आकृति वाले, लीला करते हुए, जंभाई लेते हुए एक महान् हाथी को आकाशतल से अपने मुख में प्रवेश करते देखा।

विशेषावश्यक भाष्य में स्वप्न के कारणों को स्पष्ट करते हुए कहा है — स्वप्न ज्ञान का विषय अनुभूत, दृष्ट, श्रुत, वस्तु होती है। 1. अनुभूत — पूर्व अनुभूत, स्नान, भोजन, विलेपन आदि। 2. दृष्ट-पूर्व दृष्ट हाथी। 3. चिन्तित — पूर्व चिन्तित वैभव आदि। 4. श्रुत-पूर्व श्रुत स्वर्ग आदि। 5. प्रकृति विकार — वात-पित्त आदि। 6. देवता — अनुकूल-प्रतिकूल। 7. अनुप-सजल-प्रदेश — ये सब स्वप्न में निमित्त बनते हैं। पुण्य कर्म और पाप कर्म इष्ट-अनिष्ट स्वप्न में निमित्त बनते हैं।

स्वप्न मोह-कर्म और पूर्व संस्कार के उद्बोध के परिणाम हैं। वे यथार्थ और अयथार्थ दोनों प्रकार के होते हैं। वे समाधि और असमाधि दोनों के निमित्त बनते हैं। किन्तु वे मोह प्रभावित चैतन्य दशा में ही उत्पन्न होते हैं, अन्यथा नहीं।

स्वप्न का परिणाम

Sleep and Dreaming के लेखक Dr. David के अनुसार स्वप्न मात्र हमारी चिन्ताओं के परिणाम नहीं हैं। लेकिन ये हमारी भावनात्मक एवं बौद्धिक समस्याओं को समाहित करने वाली प्रक्रिया है। ये हमारे विचारों को व्यवस्थित करने में सहायक हो सकते हैं। स्वप्न-फल के संदर्भ में भी भारतीय मनोविज्ञान में विस्तृत विचार हुआ है। आधि-व्याधिजन्य व मूल-मूत्रादि बाधाजन्य स्वप्नों को निरर्थक बताया गया है। पंचतंत्र के अनुसार —

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याधितेन स शोकेन चिन्ताग्रस्तेन जन्तुना।
कामार्त्तेनाथ मत्तेन दृष्टः स्वप्नो निरर्थकः॥

अर्थात् बीमार, शोक-चिंता-काम-अहं ग्रस्त व्यक्ति द्वारा देखा गया स्वप्न निरर्थक होता है। दुश्चिंता, अनिद्रा, मानसिक मलिनता, आसक्ति, अस्वस्थता आदि को स्वप्न की अयथार्थता का हेतु माना गया है। इसके विपरीत जो प्राणी धर्म में रत होता है, जिसकी धातुएँ उपशम होती हैं, जो स्थिर-चित्त होता है, जितेन्द्रिय और सदय होता है, जिसके मन-वाणी और अध्यवसाय पवित्र हैं, जो संवृत्त आत्मा है, प्रायः उसके द्वारा देखा गया स्वप्न सफल माना गया है। धारिणी ने शांत-सौम्य वातावरण व प्रसन्न मनसिक अवस्था में शुभ स्वप्न देखा। परम प्रसन्नता के साथ शय्या से उठकर वह मानसिक त्वरा, शारीरिक चपलता, स्खलना, विलंब आदि से रहित राजहंस जैसी गति से राजा श्रेणिक के पास जाती है। मधुर स्वरों से उन्हें जगाकर, उनकी अनुमति पाकर भद्रासन में बैठकर स्वप्न निवेदित करती है। इन सभी क्रियाओं में धारिणी की स्थिर-चित्तवृत्ति की झलक है।

स्वप्न-पाठक इस स्वप्न को आरोग्य, तुष्टि, दीर्घायु, कल्याणकारी एवं मंगलकारी बताते हैं। अर्थलाभ, सुखलाभ, भोगलाभ, पुत्रलाभ व राज्यलाभ का सूचक यह स्वप्न हमारी धारिणी को हर्ष व प्रीति प्रदान करता है। मेघकुमार का गर्भागमन इस स्वप्न के साथ जुड़ा हुआ है।

ज्ञाताधर्मकथा में चवदह महास्वप्नों का उलेख है। मल्ली जब गर्भ में आते हैं तो उनकी माता प्रभावती चवदह महास्वप्न देखती हैं। वे इस प्रकार हैं — हाथी, वृषभ, अभिषेक, पुष्पों की माला, चन्द्र, सूर्य, सिंह, ध्वजा, पूर्णकुंभ, पद्मयुक्त सरोवर, क्षीर, सागर, विमान (अथवा भवन), रत्नों की राशि और अग्नि। (1.8.29) स्वप्न-पाठक इनके तात्पर्य को बताते हैं —

1. चार दांत वाला हाथी — चतुर्विध धर्मतीर्थ का संस्थापक
2. वृषभ — भरत क्षेत्र में बोधि-बीज वपन करने वाला
3. सिंह — भव्य जीव रूप वन का संरक्षक
4. लक्ष्मी — अपार ऐश्वर्य का उपभोक्ता
5. माला — तीनों लोकों द्वारा पूजित
6. चन्द्र — भव्य जीव रूपी कमलों को विकसित करने वाला/शांतिदायी क्षमाधर्म का उपदेष्टा
7. सूर्य — ज्ञान उद्योतक
8. ध्वजा — धर्म, यश फैलाने वाला
9. कलश — शोभा विस्तारक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

10. पद्मसरोवर — देव निर्मित स्वर्णकलश पर आसीन
11. क्षीर सागर — अनन्त ज्ञान-दर्शन रूप मणि-रत्नों का धारक
12. विमान — वैमानिक देवों द्वारा पूजित
13. रत्न-राशि — मणि रत्नों से विभूषित
14. निर्धूम अग्नि — धर्मरूप स्वर्ण को विशुद्ध व निर्मल करने वाला।

स्वप्न शास्त्र में बयालीस स्वप्न और तीस महास्वप्न कुल बहत्तर स्वप्नों का उल्लेख है। जब अरहंत और चक्रवर्ती गर्भ में आते हैं तो उनकी माता तीस महास्वप्नों में से चवदह महास्वप्नों को देखकर जागती है। वासुदेव जब गर्भ में आते हैं तो उनकी माता चवदह महास्वप्नों में से किन्हीं सात महास्वप्नों को देखकर जागृत होती है। जब बलदेव गर्भ में आते हैं तो उनकी माता इनमें से किन्हीं चार महास्वप्नों को देखती है। जब मांडलिक राजा गर्भ में आता है तो उनकी माँ कोई एक महास्वप्न देखकर जागृत होती है।

उत्तराध्ययन सुखबोधा वृत्ति के अनुसार हाथी का स्वप्न देखने वाला धन्य होता है, यह सुख और धनलाभ कराता है। एक स्वस्थ व्यक्ति स्वप्न में जो कुछ देखता है, यदि वह दृश्य पूर्व अनुभूत, दृष्ट और चिन्तित न हो तो उस व्यक्ति का स्वप्न अवश्य फलित होता है।

जैन मनोविज्ञान के अनुसार स्वप्न अर्द्धनिद्रित दशा में आता है। महारानी धारिणी के स्वप्न की स्थिति के संदर्भ में कहा गया — जब वह न नींद में थी, न जाग रही थी बल्कि जब वह हल्की नींद ले रही थी, ऊंघ रही थी, तब उसने स्वप्न देखा। 1950 के प्रारम्भ में शिकागो विश्वविद्यालय के शरीरशास्त्री नेथेलियन क्लीटमां की टीम का यह अनुभव रहा कि जब नींद में रेपिड आई मूवमेंट (REM) होता है तब व्यक्ति स्वप्नावस्था में होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि जब हम सपने देखते हैं तो हम आधी नींद में होते हैं और मस्तिष्क की तरंगें जागृत मस्तिष्क की तरह ही रहती हैं। स्पष्ट है कि स्वप्न नींद का परिणाम नहीं किन्तु इसे नींद के साहचर्य की आवश्यकता होती है। वाल्टेयर (1974) में हुए एक अनुसंधान के अनुसार व्यक्ति 8 घंटे की नींद में 6.45 घंटे स्वप्न ही देखता है। ब्राउन महोदय के अनुसार स्वप्न ही निद्रा का रक्षक होता है। चूँकि स्वप्न का एक कारण बाह्य उत्तेजना ही है। यदि स्वप्न न होंगे तो स्वप्न की कारणभूत उत्तेजना निद्रा को समाप्त कर देने वाली हो जाएगी। स्वप्न ही वस्तुतः निद्रा को कायम रख पाते हैं।

फ्रायड के अनुसार स्वप्न न हों तो नींद का बने रहना ही असंभव हो जाए। इनसे हमारी सुखद-दुःखद सभी इच्छाओं की पूर्ति होती है व मानसिक शांति मिलती है। इनमें न तो दिवा स्वप्नों के समान समय ही खराब होता है, न भूलों के समान हानि होती है और न असामान्य व्यवहार के समान अनुकूलन में बाधा पड़ती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वप्न दर्शन के तत्काल बाद महारानी धारिणी के जाग जाने का उल्लेख ज्ञाताधर्मकथा में किया गया है। हाथी का स्वप्न देखने के पश्चात् धारिणी शय्या त्याग, देव-गुरु, सम्बद्ध, प्रशस्त धर्मकथाओं के साथ जागरिका करती है। स्वप्न विज्ञान के अनुसार प्रशस्त स्वप्न दर्शन के पश्चात् सोना वर्जित है, क्योंकि पुनः सोने पर कदाचित अशुभ स्वप्न आ जाए तो पूर्व दृष्ट शुभ स्वप्न का फल प्रतिहत हो जाता है। शुभ स्वप्न दर्शन के पश्चात् मंगलमय चिन्तन पूर्वक समय यापन करने से स्वप्न फल परिपुष्ट होता है।

महारानी धारिणी के स्वप्न-दर्शन के समय के संदर्भ में भी ज्ञाताधर्मकथा में निर्देश किया गया है। मध्य रात्रि के समय उसने स्वप्न देखा। स्वप्न के साथ स्वप्न दर्शन का समय भी अपना महत्त्व रखता है। रात्रि के प्रथम प्रहर में देखा गया स्वप्न वर्षभर में, दूसरे प्रहर का छह माह में, तीसरे प्रहर का तीन माह में, चतुर्थ प्रहर का तत्काल फलदायी होता है।

इस प्रकार ज्ञाताधर्मकथा में स्वप्न पर पर्याप्त मीमांसा उपलब्ध है। स्वप्नों के रहस्यमय संसार का सम्पूर्ण उद्घाटन अवश्य ही अनेक महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों के मार्ग सुझाने वाला होगा।

सम्पर्क -

जैन विश्वभारती
लाडनूँ - ३४१ ३०६ (राजस्थान)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शांति : अवधारणा एवं गांधीय दृष्टिकोण

डॉ. राधा कुमारी

मानव सभ्यता का सातत्य और विकास विश्व शांति पर निर्भर है। चाहे आज आणविक युद्ध रोकने की दिशा में प्रयास हों अथवा आधुनिक विज्ञान एवं तकनीकी को मानव कल्याण की बेहतरी की दिशा में मोड़ने का प्रयास, सबसे प्रभावी विकास का बिन्दु यह है कि लोगों में सामान्यतया युद्ध के खतरों और विशेषतया आणविक युद्ध के खतरों के प्रति चैतन्य विकसित हुआ है। परन्तु विडम्बना यह है कि स्थानीय संघर्षों व शांति के लिए उपस्थित अन्य खतरे जो कि वस्तुतः आज की विकास प्रक्रिया की उपज है, उनके प्रति जन चेतना जागृत करना अभी बाकी है।

वर्तमान में शांति और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का प्रश्न दो दृष्टिकोणों से मूल्यांकित किया जाता है। जहां एक दृष्टिकोण विभिन्न राष्ट्रों व राज्यों के मध्य शांति पूर्ण सह-अस्तित्व का है, जो कि मुख्यतः युद्ध से बचाव पर अत्यधिक बल देता है, जिसमें कि वे सभी व्यूह रचना, प्रक्रियाएं व साधन शामिल हैं, जो कि तनावों को कम करते हैं, शस्त्र नियन्त्रण व अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के बातचीत से समाधान को प्रोत्साहित करते हैं। यह दृष्टिकोण विभिन्न क्षेत्रीय संघर्ष, सुरक्षा, समस्या, महाशक्तियों की प्रतिद्वन्द्विता, तकनीकी व संगठनात्मक आविष्कारों से सम्बन्धित विशाल अनुसंधान कार्य पर आधारित है ताकि शस्त्र नियन्त्रण वार्ताओं एवं शांति के समय में राष्ट्रों में परस्पर नागरिक व सैन्य सम्पर्कों को प्रोत्साहित कर सके।[1]

शांति व अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का दूसरा दृष्टिकोण अधिक धरातल स्पर्शी है। यह दृष्टिकोण उपराष्ट्रीय इकाइयों, व्यक्तियों एवं व्यक्ति समूहों के मध्य होने वाले स्थानीय संघर्षों जो कि पूरे राष्ट्र को ही प्रभावित करते हैं व अन्ततः अन्तर्राष्ट्रीय शांति के लिए खतरा बन जाते हैं, पर ध्यान केन्द्रित करता है। वस्तुतः अधिकांश प्रमुख संघर्षों की जड़ छोटे पैमाने के तनाव होते हैं जो कि जातीय, सामाजिक, राजनीतिक व आर्थिक सन्दर्भों में किसी एक अथवा अन्य समूह की वंचना के परिणाम होते हैं,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चाहे वह वंचन वास्तविक हो अथवा भ्रामक/बारम्बार होने वाले ये स्थानीय संघर्ष विकासशील क्षेत्रों जैसे लैटिन, अमेरिका, अफ्रीका, एशिया के देशों में परिवर्तन की प्रक्रिया के परिणाम हैं। इन देशों में पहले से पर्यावरण व अन्य स्थानीय कारकों पर मानव विकास का विपरीत प्रभाव पड़ा है। जहां कि विभिन्न समूहों के असमान सम्बन्ध सामाजिक अन्याय का कारक बने हुए हैं। जहां इन संघर्षों के बीज औपनिवेशिक अनुभवों में निहित हैं, वही उत्तर औपनिवेशिक युग में विकास तकनीकों के चयन, प्राकृतिक संसाधनों के प्रबन्धन तथा संस्थागत विकास के तरीकों व विश्व आर्थिक व्यवस्था में इन देशों की स्थिति ने स्थिति को और बदतर कर दिया है।

इन दोनों आयामों का यदि गहन विश्लेषण किया जाये तो इन दोनों आयामों में विचारणीय सह-सम्बन्ध देखने को मिलता है। अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष जहां सभी जगह व्यक्तियों की सामान्य जीवन शैली, व्यावसायिक ढाँचा, उनकी कमाने की क्षमता सामाजिक सम्बन्धों को प्रभावित करते हैं वहीं किसी भी प्रकार के सामाजिक आर्थिक अन्याय से उपजे स्थानीय संघर्ष विशालतर संसार में संक्रामक रूप से फैलने लगते हैं, महाशक्तियों का हस्तक्षेप उन्हें शांति के लिए भयानक खतरे के रूप में पेश कर देता है। इस प्रकार इन स्थानीय संघर्षों की बारम्बारता मानवता के लिए नुकसान देह ही साबित होती है। परिणामतया इन संघर्षों का स्थानीय व अन्तर्राष्ट्रीय दोनों ही स्तरों पर प्रबन्धन आवश्यक प्रतीत होता है।

शांति एवं संघर्ष निदान सम्बन्धी साहित्य एवं कार्य का परीक्षण करने से हमें, महाशक्तियों से विशाल क्षेत्रीय शक्तियों की प्रतिद्वन्द्विता से बचाव के दृष्टिकोण का प्रभुत्व नजर आता है जबकि लोगों के गुटों के मध्य होने वाले स्थानीय संघर्षों जो कि अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव की चिन्त्य सम्भावना रखते हैं, उनकी ओर अपेक्षाकृत कम ध्यान दिया गया है। तृतीय विश्व के समाजों में संघर्षों के प्रत्यक्ष व तात्कालिक कारण इन देशों में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप होने वाले तकनीकी, जातीय, आर्थिक, सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया से संगति रखते हैं।

इस समस्या सम्बन्धी अनेक दृष्टिकोणों का अस्तित्व है जो कि उदारवाद से लेकर मार्क्सवाद तक कहीं न कहीं अपनी स्थिति रखते हैं। ये दृष्टिकोण न केवल आंशिक हैं बल्कि प्रतिस्पर्धा व तनातनी के आधारभूत सिद्धान्त से असंगति रखते हैं जो कि स्थिति को बेहतर बनाने की क्षमता को सीमित करता है। एक दृष्टिकोण गांधीय दृष्टिकोण है, जिस पर कि अभी तक अपर्याप्त ध्यान दिया गया है, किन्तु यह दृष्टिकोण संघर्ष निदान व शांति के क्षेत्र में विचारणीय सम्भावनाएं रखता है।[2]

शांति से अभिप्राय

शांति का पुराना विचार सामञ्जस्य का पर्यायवाची है, दूसरे शांति का यह विचार संगठित व सामुदायिक हिंसा के अभाव को ही शांति का पर्याय मानता है। गेलटन एवं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दास गुप्ता शांति के परम्परागत अर्थ को नकारते हैं तथा शांति का नवीन दृष्टिकोण विकसित करते हैं।

गैलटन के अनुसार सांमजस्य की अवस्था एक सामान्यावस्था है जो कि परस्पर विरोधी शक्तियों के अन्तर्गत तथा उनके मध्य है, चाहे वह व्यष्टि स्तर पर हो अथवा समष्टि स्तर पर। सामान्यतया साम्यावस्था गत्यात्मक अवस्था न होकर स्थैतिक है, किन्तु इस अर्थ में शांति केवल हिंसा का अभाव है तथा सामंजस्य शांति के लिए एक अनिवार्य अथवा पर्याप्त शर्त बनकर रह जाती है, शांति का यह रूप केवल नकारात्मक शांति मात्र से है।[3]

शांति की इस अवधारणा में शांति का पर्याय संगठित हिंसा के अभाव से कहीं अधिक है, साथ ही यह मात्र शक्तियों एवं राष्ट्रों के मध्य असमानता तथा शोषण का अभाव मात्र भी नहीं है। सूक्ष्म रूप में सकारात्मक शांति सभी के लिए समान अधिकारों की वकालत करने वाली व्यवस्था से सम्बन्धित है।

दास गुप्ता के अनुसार शांति और युद्ध परस्पर सम्बन्धित प्रत्यय है। पश्चिमी जगत में युद्ध एवं शांति को एक-दूसरे के विपरीत माना जाता है, अतः वहां युद्ध और शांति का अभाव भी अन्तर्सम्बन्धित है। दास गुप्ता और रफीक खान के अनुसार युद्ध, हिंसा, तनाव तथा शोषण का अभाव केवल शांति के नकारात्मक पक्ष का ही निर्माण करते हैं। शांति का सकारात्मक पक्ष मानवीय एवं सामाजिक विकास की प्रक्रिया है, जो कि सुनियोजित व मनुष्योन्मुखी दिशा में सतत सामाजिक परिवर्तन का पोषक है। नकारात्मक शांति के प्रबन्धन के प्रयास हेतु मात्र प्रत्यक्ष हिंसा व शोषण का अभाव मात्र ही पर्याप्त नहीं है, वरन् संगठनात्मक किन्तु अप्रत्यक्षरूप से अस्तित्वमय हिंसा का अभाव भी समान रूप से महत्त्वपूर्ण है। हिंसा समाज के सूक्ष्म पृथक्करणीय हिस्सों तथा मनुष्य के मस्तिष्क में निहित होती है। अतः शान्ति का नया प्रत्यय सामाजिक ढाँचे के विकास से जुड़ा हुआ है तथा शांति के सभी पक्षों, अशान्ति असन्तुलित विकास एवं सामाजिक परिवर्तन से सम्बन्धित है।[4]

शांति को यदि केवल अन्तर्राष्ट्रीय सन्दर्भों में मान्य समझा जाए तो यह कभी प्रभावी नहीं हो सकती। शांति एक देश के अन्दर साथ ही समाज के अन्दर भी होनी चाहिए, क्योंकि एक शान्तिविहीन समुदाय अन्य समुदायों के साथ सहयोगपूर्ण तरीके से नहीं रह सकता। अतः शांति की समस्या को किसी समाज की आन्तरिक शांति की समस्या के रूप में समझा जाना चाहिए। एक ऐसी समाज व्यवस्था जो कि इसमें रहने वाले व्यक्तियों को अपनी आन्तरिक समस्याओं के समाधान हेतु हिंसा और आतंक को प्रेरित करे, कभी भी शांतिपूर्ण समाज की स्थापना में सहयोगी नहीं होगी।[5]

इस मुद्दे को अब भिन्न दृष्टिकोण से देखने हेतु हम एक ऐसे समाज की कल्पना करते हैं जिसमें कि लोग बहुत व्यवस्थित तरीके से व्यवहार करते हैं। ये लोग अपने झगड़ों को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुलझाने हेतु मत्स्यन्याय के स्थान पर विधि न्यायालयों में जाते हैं, जहाँ कि चोरी, बच्चों के अपहरण अथवा मांस के व्यापार जैसे अपराधों को न्यूनतम करने हेतु पुलिस की व्यवस्था भी पर्याप्त मात्रा में है। जहाँ कि लोगों के लिए विशेषत: बच्चे एवं औरतों के लिए किसी अपहरण अथवा बलात्कार से भयभीत हुए बिना घूमना आसान है, एक ऐसा समाज जिसमें कि सीमेन्ट और खाद के कुछ थैले हेतु घूस नहीं देनी होती, जिस समाज में लोग अपने दैनिक कार्य को किसी और इच्छा के बिना, ईमानदारीपूर्वक नियमित रूप से करते हैं, फिर भी इस समाज में यह सब कार्य इस विचार के साथ हो रहा है कि उनके किसी बड़े भाई द्वारा निरन्तर निगरानी की जाती है तो यह व्यवस्था शांतिपूर्ण नहीं है, क्योंकि इस व्यवस्था में भय की नियमनकारी भूमिका है।

अन्य शब्दों में लोगों के मध्य अपराध और शारीरिक हिंसा का अभाव ही एक शांत समाज की रचना हेतु पर्याप्त शर्त नहीं है। इस परिवर्तन हेतु इस तरह के बड़े भाई पूर्ण अनुपस्थिति भी अनिवार्य है। हिंसा का सामान्यत: शारीरिक चोट से अर्थ लिया जाता है। यह चोट मात्रा में भिन्न हो सकती है। यह मामूली चोट से लेकर किसी व्यक्ति की दर्दनाक मौत भी हो सकती है। यह एक जेल की सजा भी हो सकती है, जहां कि व्यक्ति को एक सामान्य जीवन जीने से वंचित कर दिया जाता है, लेकिन हिंसा मनोवैज्ञानिक भी होती है जिसका प्रभाव शारीरिक हिंसा के समान ही दर्दनाक हो सकता है। स्पष्टतया ये भिन्न-भिन्न प्रकार की हिंसा मानवीय सम्बन्धों पर समान प्रभाव रखती है। एक व्यक्ति को गोली से मारना अथवा विद्युत् कुर्सी पर मारना अथवा भूख से तड़पाकर मारना व्यावहारिक दृष्टि से समान ही है। एक मामले में मृत्यु शीघ्रता से हो जाती है तो दूसरे में धीरे-धीरे। दोनों ही शारीरिक चोट है। आज भारत में तथा विश्व के अन्य देशों में आर्थिक प्रवंचन, जातीय व लैंगिक भेदभाव तथा जातिप्रथा, ये सभी समाज को हिंसक बनाये हुए हैं, क्योंकि ये सभी कृत्य मानव जीवन एवं मानव सम्बन्धों के लिए अहितकर है।

शांति का ऐतिहासिक सन्दर्भ

यद्यपि इतिहास में शान्ति के अध्ययन को अपेक्षित महत्त्व नहीं दिया गया है तथापि शांति का इतिहास में चिन्तनीय स्थान रहा है। सम्पूर्ण संसार के इतिहास में महत्त्वपूर्ण शांति आन्दोलन हुए हैं। अधिकांशत: इतिहासज्ञों, पुरातत्त्वविदों ने युद्ध एवं उनकी तकनीकों की कहानियों पर ही ध्यान दिया है। वस्तुत: इतिहास के अध्ययन-अध्यापन में शांति की, मानव की स्वाभाविक पिपासा को कोई गम्भीर तथा स्थायी स्थान नहीं दिया गया है। इतिहास में शांति का अध्ययन युद्ध, हिंसा, प्रतिस्पर्धा एवं विजयों के एक तरफा अध्ययन जिसने कि परम्परागत रूप से अधिक स्थान घेरा हुआ है। इस विषय पर समग्र दृष्टिकोण से अध्ययन का अभाव रहा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शान्ति का ऐतिहासिक सन्दर्भ में अर्थ

विश्व की विभिन्न संस्कृतियों में 'शान्ति' शब्द को कई अर्थों में प्रयुक्त किया गया है। भारत के इतिहास में शान्ति का सामञ्जस्य, व्यक्तिगत आन्तरिक अवस्था के लिए प्रयुक्त किया गया है। 'ओम शांति' शब्द को ब्रह्माण्ड की चेतना के लिए प्रयुक्त किया गया है। शैलोम (यहूदी संस्कृति में शांति) यहूदी लोगों में मिलने का एक तरीका है। यह शांति से सम्बन्धित है जो कि बाह्य समृद्धि लाती है। अरबी संस्कृति में अभिवादन शब्द 'सलाम' अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों में शांति की इच्छा को ही बताता है। युनानियों में 'इरीन' शांति की देवी है जो कि भौतिक समृद्धि लाती है। 'पैक्स' शांति के अर्थ में प्रयुक्त रोमन शब्द है। यह एक समझौता है दो व्यक्तियों अथवा दो राष्ट्रों के मध्य। पैक्ट के अर्थ में पैक्स अभी भी सन्धियों के लिए प्रयुक्त किया जाता है। उदाहरणार्थ पेरिस की शांति, वसार्य की शांति और इसी प्रकार अन्य।[6]

इस प्रकार शांति केवल युद्ध को रोकना अथवा संघर्षों का निदान नहीं है वरन् कुछ आदर्शों में व्यक्त जीवन का एक मार्ग है। संस्कृति शांति शब्द को अर्थ प्रदान करती है। शांति एक ऐसी अवस्था है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति एवं संस्कृति अपने अनूठे तरीके से पुष्पित हो सके।

गाँधीय शान्ति

जहाँ तक गाँधीजी का प्रश्न है, उन्होंने स्वयं शांति अथवा शान्ति निर्माण का कोई दर्शन अहिंसा के सिद्धान्तों के समुच्चय रूप में व्यवस्थित प्रस्तुति द्वारा निर्मित्त नहीं किया। गाँधी एक सक्रिय एवं व्यावहारिक दार्शनिक थे। उनकी अधिकांश दार्शनिक कृतियाँ उन समस्याओं के हल से प्रेरित व निर्धारित होती थी, जो कि उस समय व युग के लोगों, समाजों व देश के सामने थी। उनके द्वारा लिखित अथवा बोले गए शब्दों से अधिक उनकी जीवन गाथा सम्पूर्णता से उस ध्येय को स्पष्ट करती है, जिसके लिए वे उम्र भर प्रयासरत रहे। उनकी यह औपचारिक स्वीकारोक्ति 'मेरा जीवन ही मेरा संदेश है' मात्र एक वक्तव्य नहीं है। अत: गाँधी का शान्ति एवं अहिंसा के दृष्टिकोण को जानने हेतु हमें उनके जीवन की ओर देखना होगा तथा उन मूल्यों व सिद्धान्तों को समझना होगा जो कि उनकी गतिविधियों के आधार बने।

शांति के नये प्रत्यय का निर्माण करते समय दासगुप्ता गाँधी द्वारा परिभाषित शान्ति के प्रत्यय की विस्तार से व्याख्या करते हैं। शांति को परिभाषित करते समय गाँधी अन्य रास्ता अपनाते हैं। वह सबसे पहले इसके विलोम हिंसा को परिभाषित करते हैं। गाँधी का हिंसा से तात्पर्य बल प्रयोग, दबाव अथवा खून खराबा से ही नहीं था। उसकी हिंसा की परिभाषा में सभी प्रकार का सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक शोषण चाहे व्यक्तियों द्वारा हो, राष्ट्रों द्वारा हो, पुरुषों द्वारा महिलाओं का हो अथवा व्यक्तियों एवं व्यवस्थाओं का, व्यक्तियों एवं व्यवस्थाओं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वारा हो, अथवा पुरुषों एवं समाज का मशीन एवं व्यवस्था द्वारा हो अथवा इसके विपरीत हो शामिल है। यह शान्ति का अन्य नाम है। गाँधी के विचार में शान्ति एक स्थैतिक प्रत्यय न होकर गत्यात्मक, सकारात्मक अस्तिकाय है।[7]

जहाँ शान्ति के अनुसंधान कार्य को मुख्यतः विभिन्न राष्ट्रों को सत्तासीन अभिजनों के क्षैतिज राजनैतिक संघर्षों में शांति एवं युद्ध की समस्याओं के रूप में देखा जाता है, वहीं गाँधी की शान्ति की व्यापक अवधारणा में गरीबी, अविकास, आन्तरिक हिंसा युद्ध सभी की समस्याएं शामिल हैं। अतः युद्ध विरोधी एवं अहिंसक अभियान गाँधी के अनुसार केवल युद्ध और हिंसा की समाप्ति का ही लक्ष्य नहीं रखते वरन् समाज के सभी संस्तरों से हिंसा व शोषण की समाप्ति भी चाहते हैं।

यह एक सम्पूर्ण व आधारभूत परिवर्तन हेतु एक अभियान है। इस सिद्धान्त के अनुसार अहिंसा हिंसा का विलोम मात्र नहीं है वरन् निम्नतम स्तर के व्यक्ति जिसे कि गाँधी ने दरिद्रनारायण कहा, की सहायता और सामाजिक परिवर्तन हेतु वैकल्पिक शक्ति है। इस विचारधारा के अनुसार शान्ति का कार्य एक नये समाज की स्थापना है और शान्ति का सिद्धान्त संघर्ष एवं परिवर्तन का सिद्धान्त है।

अर्थात् गाँधी की शान्ति की अवधारणा सकारात्मक थी जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को वह सम्मानजनक स्तर प्राप्त था, जिससे कि समाज में सघर्ष जन्म ही न लें। गाँधी की शान्ति की अवधारणा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में वैयक्तिक सम्बन्धों के समान कसौटी पर खरी उतरती है।

शान्ति : मानव का स्वाभाविक धर्म

शान्ति और युद्ध का विषय नहीं, युद्ध व शान्ति का विषय अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के सभी स्तरों पर सभी कालों में तथा लगभग सभी स्थितियों में ध्यान का केन्द्रीय विषय रहा है। शान्ति के प्रति मानवता के विश्वास और प्रेम का पता हम इस बात से लगा सकते हैं कि सभी मानवीय धर्म, सभी धर्म ग्रन्थ तथा कई एक धार्मिक रीति-रिवाज शान्ति के पथ को सुदृढ़ करते हैं तथा युद्ध की समाप्ति की वकालत करते हैं।

शान्ति की दिशा में प्रयास

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में युद्ध को रोकने तथा शान्ति को दृढ़ बनाने के लिए अकर्मण्यता या विचारशून्यता की स्थिति रही हो, ऐसा नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के इतिहास का रिकार्ड यह बतलाता है कि युद्ध के युगों में भी शान्ति के उपकरणों की खोज अनवरत रही है।

चूंकि युद्ध की अनुपस्थिति शान्ति की प्रथम शर्त होती है। इसी कारण विद्वानों तथा राजनीतिज्ञों का प्रमुख लक्ष्य विशेषकर युद्धोत्तर काल में इस प्राथमिक उद्देश्य की पूर्ति रहा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शीत युद्ध जिसने 1945-90 तक के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को घेरे रखा था, ने इस लक्ष्य की प्राप्ति अप्रत्यक्ष रूप में तथा नकारात्मक रूप में की। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में आतंक के सन्तुलन की स्थापना करके जहाँ पर यह विश्व युद्ध को रोकने में सफलता प्राप्त हुई, वहाँ यह कई एक स्थानीय मुद्दों को नहीं रोका जा सका तथा वास्तव में यह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों, तनावों और दबावों का कारण बनी। अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय बड़ी कठिनता से इन स्थानीय मुद्दों तथा संकटों को सीमित रखने में सफल रहा तथा इस कार्यवाही ने इससे संकट समाधान करने की अपनी सकारात्मक योग्यता को भी दर्शाया परन्तु इससे विशेषकर एशिया तथा अफ्रीका के नए राज्यों को शीत युद्ध की बहुत अधिक कीमत चुकानी पड़ी।

नये राज्यों ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में अपने उचित अधिकारों तथा स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए गुट निरपेक्षता को अपना लिया। गुट निरपेक्ष आन्दोलन के विकास ने अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को बनाए रखने के पक्ष में तीसरी दुनिया में जागृति तथा प्रयासों के प्रति चेतना पैदा की। इस बात को विकास की आदर्श परिस्थिति के रूप में मान्यता दी गई।

संयुक्त राष्ट्र संघ ने कुछ संकटों के समय अपनी सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था को प्रारम्भ किया ताकि विभिन्न राज्यों के मध्य उत्पन्न हुए स्थानीय मुद्दों को सीमित तथा समाप्त किया जा सके। इसने अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय की शान्ति तथा सुरक्षा को बनाए रखने वाली संस्था के रूप में कार्य करना प्रारम्भ किया। इसके सभी प्रयासों का उद्देश्य विश्व शान्ति तथा सुरक्षा की रक्षा करना था।

विश्व शान्ति के लिए किए गए प्रयासों के परिणाम

शीत युद्ध के अन्त तथा निशस्त्रीकरण तथा नियन्त्रण के पक्ष में आई नई जागृति, सभी द्वारा लोकतन्त्र, विकेन्द्रीकरण, विकास, विद्युतीकरण, शस्त्रों की समाप्ति के आदेशों को स्वीकार किया जाना, शान्ति की सुरक्षा के लिए अन्तर्राष्ट्रीय एजेन्सी के रूप में संयुक्त राष्ट्र संघ में नया विश्वास, शान्ति आन्दोलनों की बढ़ती हुई शक्ति तथा लोकप्रियता, विश्वसनीयता, आत्मनिर्भरता के प्रति बढ़ रही जागृति, पश्चिमी यूरोपीय राष्ट्रों में अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रीय एकीकरण की प्रवृत्ति, कार्यात्मकतावाद तथा राष्ट्रवादी सार्वभौमिकता नहीं सार्वभौमिकतावादी राष्ट्रवाद में नया विश्वास तथा युद्धके विरुद्ध दृढ़ संकल्प सभी वर्तमान समय के सकारात्मक विकास हैं, लेकिन इसके साथ ही उत्पन्न हुआ एकल ध्रुवीकरण, नीओ के सम्बन्ध में उत्पन्न गतिरोध, धनीराज्यों (जी-7) द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय दादा बनने के संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रयास, कई विरोध केन्द्रों, जातीय तथा गैर जातीय जैसे फिलीस्तीन, कश्मीर, लेबनान, ईराक, युगोस्लविया, कम्बोडिया, साईप्रस आदि की विद्यमानता, संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद पर संयुक्त राज्य अमेरिका का प्रभुत्व, परमाणु राष्ट्र द्वारा विपरमाणुकरण करने की अनिच्छा, ये सभी वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय दृश्यपटल की नकारात्मक तथा खतरनाक विशेषताएं हैं। ये सभी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशेषताएं आवश्यक बना देती है कि विश्व शान्ति तथा सुरक्षा की रक्षा के लिए दुगने उत्साह से कार्य करें।

इस क्षेत्र में गाँधी की यही विशेषता और महत्त्व है कि उन्होंने अहिंसा को केवल सिद्धान्त रूप में ही नहीं, बल्कि साकार रूप में स्थापित किया तथा एक वैज्ञानिक या दार्शनिक की भांति उसका एक विश्लेषणात्मक रूप प्रस्तुत किया। हजारों वर्षों के रक्तपात से ऊबे हुए विश्व को उन्होंने ऐसा मार्ग दिखाने का प्रयास किया जिसके आधार पर बिना शस्त्रों के ही अन्याय का विरोध किया जा सकता है। यह पद्धति कठिन अवश्य है किन्तु असम्भव नहीं। इसके सिवा विनाश से बचने का और कोई मार्ग भी नहीं है। हमें विभिन्न परिस्थितियों एवं क्षेत्रों में इसका सफल प्रयोग करने के लिए इसमें कुछ आवश्यक परिवर्तन भी करने होंगे। गाँधीजी स्वयं भी ऐसा किया करते थे। जहाँ तक सामाजिक या राष्ट्रीय प्रश्नों का सम्बन्ध है, वहाँ तक तो इस प्रणाली में कोई विशेष परिवर्तन किए बिना भी सफलता मिल सकती है, क्योंकि इतने क्षेत्र में गाँधीजी स्वयं इसका सफल प्रयोग करके देख चुके थे, अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रयोग करने की समस्या कभी उनके सामने आयी ही नहीं। अत: उसके लिए हमें ही उसे नया रूप देना होगा।

वस्तुत: गाँधी के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के बारे में उनके दृष्टिकोण को हमें उनके दर्शन के प्रकाश में ही समझना होगा, क्योंकि उनका दर्शन ही उनके प्रत्येक मूर्तामूर्त कृत्य का निर्देशक है। जहां मोर्गेन्थों व मैकियावली जैसे विचारक कूटनीति को अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की कुंजी मानते हैं, क्योंकि वे मानवीय हितों के मध्य परस्पर व निरन्तर विरोधों की स्थिति को स्वीकारते हैं। अत: उनके अनुसार इस संसार में देश के बढ़ते राष्ट्रीय हित अनिवार्य रूप से दूसरे राष्ट्र के हितों में कमी कर देते हैं और यही अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों के मूल कारण है। वहीं गाँधी ने इसके बिल्कुल विपरीत हितों की एकता की बात कही। सभी को एक ही ईश्वर का अंश मानकर अपने महासागरीय वृत्तों में उन्होंने परस्पर विरोध के स्थान पर हितों में अनुकूलन की बात कही। गाँधी तो इस हद तक एक-दूसरे को जुड़ा हुआ मानते थे कि उन्होंने समाज में अन्य लोगों के हिंसक होने पर स्वयं को भी उस हिंसक कृत्य का भागीदार माना। गाँधी का हितों की एकता का ही दृष्टिकोण उन्हें प्रत्येक सन्दर्भ में दिशा निर्देश देता है।

हिंसा से हिंसा के मुकाबले को निर्रथक मानकर उनका दृढ़ विश्वास था कि हिंसा का निराकरण केवल अहिंसा के द्वारा ही प्रभावोत्पादक ढंग से किया जा सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर हिंसा के मूल में आर्थिक, राजनीतिक और धार्मिक कारण सम्भव है। गाँधी ने तीनों प्रकार की हिंसाओं को रोकने के उपाय सुझाए हैं। आर्थिक दृष्टि से गाँधी पूंजीवाद को अन्तत: साम्राज्यवाद के रूप में प्रस्तुत करते हैं। गाँधी का यह विचार, लेनिन के इस विचार से कि साम्राज्यवाद पूंजीवाद का उच्चतम चरण है, साम्य रखता है। अत: आवश्यक है कि राष्ट्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आर्थिक दृष्टि से एक-दूसरे का शोषण न करे। राजनीतिक दृष्टि से शक्तिशाली राष्ट्र असमर्थ राष्ट्रों से स्वतन्त्रता, समता और भ्रातृत्व का व्यवहार करें। धार्मिक दृष्टि में उदारता और सर्व धर्म समभाव के सिद्धान्त की स्थापना आवश्यक है। अत: अन्तर्राष्ट्रीय सामंजस्य की पूर्व शर्त के रूप में आर्थिक न्याय, समानता और राज्यों के मध्य शान्तिपूर्ण सहयोग न्याय की दिशा की ओर क्रमश: विकासवादी चरणों का परिचायक है। गाँधी के अनुसार एक राष्ट्र के द्वारा दूसरे राष्ट्र का शोषण और एक राष्ट्र पर दूसरे राष्ट्र के प्रभुत्व के लिए ऐसे संसार में कोई स्थान नहीं हो सकता, जो युद्ध मात्र का अन्त करने का प्रयत्न कर रहा हो।[8]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि युद्ध के लिए उपस्थित खतरों के उन्मूलन के लिए मानव द्वारा किये गये समस्त प्रयासों के पश्चात् भी एक निराशा का माहौल व्याप्त है। इसका कारण सम्भवत: किये गये प्रयासों की दिशाहीनता है। गाँधी वो दृष्टि प्रदान करने की चेष्टा करते हैं, जो कि न केवल अल्पकालिक शान्ति स्थापित करेगी वरन् युद्ध की समस्या का हमेशा के लिए परिहार कर देगी। अत: बीसवीं सदी की गांधीय दृष्टि एक सामान्य स्वयंसिद्धि नहीं है अत: उसके अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रयोगाधारित आकलन की आवश्यकता है। गांधी विचार की प्रासंगिकता इसी तथ्य में निहित है।

सन्दर्भ :-

1. गांधी मॉडल ऑव डेवेलपमेण्ट एण्ड वर्ल्ड पीरस, आर.पी. मिश्रा द्वारा सम्पादित, पृ. 1-2, कॉन्सेप्ट पब्लिशिंग हाऊस, 1990
2. वही, पृ. 4
3. पर्सपेक्टिव्स ऑव पीस रिसर्च, पृ. 23, 7, 8 व 9 अगस्त, 1972 को अहमदाबाद के पीस रिसर्च सेण्टर गुजरात विद्यापीठ में भारत में शान्ति अनुसंधान के क्षेत्र एवं कॉन्सेप्ट मैथडोलोजी विषय पर आयोजित सेमिनार पर आधारित। पब्लिकेशन - गुजरात विद्यापीठ अहमदाबाद, 1972
4. पीस एड्यूकेशन एण्ड एड्यूकेशन फॉर पीस, देवीप्रसाद, पृ. 14, गांधी पीस फाउण्डेशन, नई दिल्ली, 1984
5. पर्सपेक्टिव ऑव पीस रिसर्च, पृ. 23-24
6. डायमेन्शसन ऑव पीस एण्ड नॉन वॉयलेंस, द गाँधीयन पर्सपेक्टिव, पृ. 15
7. पर्सपेक्टिव ऑव पीस रिसर्च, पृ. 24
8. महात्मा गाँधी, द लास्ट फेज, प्यारेलाल।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विन्ध्यगिरि की जैन कला

सुश्री अरुणा सोनी

कला जीवन की अभिव्यक्ति है। आध्यात्मिक और सांस्कृतिक साधना का जीवन्त क्षेत्र कला है जो प्रतीकात्मक पद्धति पर अवलम्बित है। जैन-कला के साधकों ने भी स्वान्तः सुखाय उसी सुरम्य प्रांगण को उद्योतित किया है। स्तूप, चैत्य, चक्र, गुहा आदि सभी में जैन -साधना की भावनाएं अंकित हुई हैं। यहीं कला और धर्म का जीवन और साधना का समन्वय होता है।

कला व्यक्ति का ज्ञान है और जिसका अर्थ होता है -शिल्प या विशिष्ट प्रकार की दक्षता। स्थूल रूप से कला का विभाजन दो रूप से किया गया है—

(क) ललित कला (ख) यांत्रिक या उपयोगी कला। वास्तुकला ,मूर्तिकला ,चित्रकला, संगीत और काव्य कला आदि ललित कलाएं हैं। बढ़ई, लुहार, राजमिस्त्री, कुम्भकार, जुलाहे आदि के कार्य उपयोगी या यांत्रिक कला में आते हैं। यद्यपि इन सभी कलाओं का अन्तर्भाव भी स्थापत्य या मूर्तिकला में हो जाता है।

प्रागैतिहासिक जैन कला-प्रागैतिहासिक काल में भी कला प्रतीक रूप में प्रारम्भ हो चुकी थी। चूंकि इस काल में भाव अमूर्त या अस्पष्ट थे, अतः उस युग की कलाओं का स्वरूप प्रतीकात्मक रहा। इस काल में भाव भौतिक आकृतियों में पूर्णतः व्यक्त नहीं हो पाया था, इसलिए कलाएं भद्दी और कुरूप थीं, जैसे - प्राचीन देवी-देवताओं की मूर्तियाँ, जिनमें आकृति तो है किन्तु स्पष्ट भावाभिव्यक्ति नहीं।

लेकिन धीरे-धीरे यह भावना प्रबल हो गई कि तीर्थंकरों ने जन- जन के कल्याण और उपकार के लिए जो कुछ किया उस अनुग्रह को जनता ने बड़ी श्रद्धा के साथ स्वीकार किया और जब तक तीर्थंकर विद्यमान रहते हैं तब तक जनता उनके चरण कमलों में जाकर भक्ति, पूजा करती है मगर जब उनका निर्वाण हो जाता है तब जनता में उनका अभाव तीव्रता से अनुभव किया जाने लगता है। जनता की इस अभिव्यक्ति बल्कि तीव्र अभिव्यक्ति ने, अनुभूति ने प्रतीक पूजा-पद्धति को जन्म दिया। जैन -धर्म में प्रतीकों के रूप में स्तूप, त्रिरत्न, चैत्य स्तम्भ, चैत्यवृक्ष, पूर्णघट, शराव सम्पुट (मिट्टी का पात्र, दोना) पुष्पमाला आदि मुख्य हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन कला का विकास- कला के प्रारम्भिक काल में इन प्रतीकों का पर्याप्त प्रचलन रहा। किन्तु जैसे-जैसे कला-बोध विकसित हुआ त्यों-त्यों प्रतीक को अधिक महत्त्व मिलने लगा। इसी काल में जैन तीर्थंकरों की मूर्तियों का निर्माण होने लगा । प्रारम्भ में प्रकृत भूमि से ऊंचे स्थान पर देव मूर्ति स्थापित की जाती थी। उसके चारों और वेदिका का निर्माण होता था। धीरे-धीरे वेदिका को ऊपर से आच्छादित (ढ़कना) किया जाने लगा। यही देवायतन, देवालय या मन्दिर कहे जाने लगे। प्रारम्भ में यह देवायतन सीधे साधे रूप में बनाए जाते थे। कालान्तर में कलात्मक रुचि में अभिवृद्धि हुई। मूर्ति स्थापना के स्थल पर गर्भगृह को परिवेष्टित (घिरा हुआ) करने के अतिरिक्त उसके बाहर चारों ओर प्रदक्षिणा पथ का निर्माण हुआ। गर्भगृह के बाहर आच्छादित प्रवेशद्वार या मुखमण्डप का निर्माण हुआ। धीरे-धीरे गर्भगृह के ऊपर शिखर तथा बाहर मण्डप, अर्धमण्डप, महामण्डप आदि का विधान हुआ।[1]

जैन कला को प्रारम्भ करने में ऋषभदेवजी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ऋषभदेवजी के काल को नागरिक सभ्यता का काल भी कहा जाता है। इसी काल में अयोध्या नगरी की रचना हुई। इसके साथ ही नगर के मध्य में पांच देवालयों या जिनालयों की रचना करके उसमें मूर्ति स्थापना प्रारम्भ हुई।

पुरातत्त्ववेत्ताओं के अनुसार प्रारम्भ में मूर्तियाँ मिट्टी की होती थी मगर यह चिरस्थायी नहीं थी। अत: इन मृणमूर्तियों को पकाया जाने लगा। मगर यह भी स्थायी नहीं रही। अत: पाषाण की मूर्तियाँ बनाई जाने लगी। इस प्रकार चट्टानों को काटकर या गुफाओं में मन्दिर एवं मूर्तियाँ बनाने का सिलसिला प्रारम्भ हो गया। इन गुफा मन्दिरों में स्थायित्व अधिक होने लगा। इसी कारण ईसा पूर्व का एक भी मन्दिर विद्यमान नहीं है जबकि गुफा मन्दिर हैं।

मन्दिर में स्थायित्व के साथ-साथ दक्षिण भारत में बहुत संख्या में मन्दिर-निर्माण का कार्य प्रारम्भ हुआ। उत्तर की भाँति दक्षिण में मुस्लिम आक्रान्ताओं का भय कम था (या नहीं था) और जहाँ दक्षिण में राजाओं, रानियों और राजश्रेष्ठियों द्वारा मन्दिरों का निर्माण हुआ वहीं उत्तर भारत में जन सामान्य द्वारा। इस कारण से दक्षिण भारत के मन्दिरों में सुरक्षा एवं स्थायित्व अब तक विद्यमान है। इसका एक मुख्य कारण उत्तर भारत में भीषण अकाल की वजह से कई जैनाचार्यों का दक्षिण में पलायन भी था।

श्रवणबेलगोला और विन्ध्यगिरि- श्रवणबेलगोला मैसूर राज्य के हासन जिले में अत्यन्त प्राचीन और धार्मिक स्थल है। यहाँ के शिलालेख भव्य तथा पवित्र मन्दिर, प्राचीन गुफाएं और विशाल मूर्तियाँ, ये सब न केवल जैन पुरातत्त्व की दृष्टि से अपना महत्त्व रखते हैं, अपितु इनमें भारत की सभ्यता, संस्कृति तथा इतिहास का भी घनिष्ठ संबंध है। यहीं पर हैं। पक्षी भूलकर भी इस मूर्ति के ऊपर से नहीं उड़ते । बाहुबलीजी के दोनों कर्णों में से केसर की सुगन्ध निकलती है। मूर्ति के चरणों पर पुष्पवृष्टि ऐसी प्रतीत होती है मानो उज्ज्वल तारा-समूह उनके चरणों की वंदना को आया हो।[4]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विन्ध्यगिरि के मन्दिरों की स्थापत्य एवं मूर्तिकला -विन्ध्यगिरि में आठ मन्दिर हैं। विन्ध्यगिरि के मन्दिरों के चारों तरफ जो परकोटा है उसके किवाड़ नहीं है। वर्षों से यह दरवाजा दिन-रात खुला पड़ा है, जो चाहे आये और दर्शन करके अपना जन्म सफल कर लें। परकोटे की दीवार पर चूना फेरकर उसके ऊपर गेरुंआ रंग की लम्बी -लम्बी धारियां खींच दी गई हैं। दक्षिण में ऐसी धारियां पवित्र स्थान की सूचक मानी जाती हैं।[5]

गोम्मटेश्वर के परकोटे का निर्माण गंगराज ने कराया था। गंगराज होय्यसल नरेश विष्णुवर्धन के सेनापति थे। इस घेरे में आठ मन्दिर हैं, उनका वर्णन इस प्रकार है-

1. चौबीस तीर्थंकर- यह बहुत ही छोटा मन्दिर है। इस मन्दिर के भीतर एक गर्भगृह, उसके बाद सुखनासी (एक स्थान) और द्वार मण्डप है। इस मन्दिर में किसी तीर्थंकर की कोई खास मूर्ति नहीं है बल्कि पत्थर की पट्टियों पर नीचे की ओर तीन मूर्तियां खड़ी हैं और उनके ऊपर 21 छोटी-छोटी मूर्तियां गोल प्रभामण्डल में अंकित की गई हैं।

2. ओदेगल बस्ती- यह सबसे बड़ा मन्दिर है। यह चबूतरे पर बना है। दीवारों को सम्भालने के लिए टेके लगाने के कारण यह नाम पड़ा है। इसके गर्भगृह के तीनों द्वार पूर्व, पश्चिम तथा दक्षिण दिशा की तरफ हैं, जिनमें आदिनाथजी, शांतिनाथजी और नेमिनाथजी की बहुत अच्छी विशाल मूर्तियाँ स्थापित हैं। इसी कारण इस बस्ती का नाम त्रिकुट बस्ती भी पड़ गया है।[6] ओदेगल का अर्थ है- आधार या टेका देना, जिसे आगे चलकर मुगल शासकों ने इसका नाम 'तोड़' कर दिया। इनके शासन काल में कलात्मक दृष्टि से सुन्दरता प्रदान करने के लिए इनकी आकृति सर्पाकार, सिंहाकार, गजाकार आदि होने लगी।

3. चेन्नण्ण बस्ती- इस बस्ती के मध्य में एक मन्दिर है । इसमें चन्द्रप्रभ भगवान की ढाई फीट ऊँची प्रतिमा विराजमान है। मन्दिर में एक गर्भगृह है, एक द्वारमण्डप है और भीतर ओसार है। पास में ही गहरा जलकुण्ड है। इसी जलकुण्ड के जल से भगवान बाहुबली का मस्तकाभिषेक होता है।

4. सिद्धर बस्ती- यह मन्दिर है तो छोटा सा ही परन्तु सिद्ध भगवान का स्थान है। इसमें तीन फुट ऊंची सिद्ध भगवान की मूर्ति विराजमान है। मूर्ति के दोनों और 6-6 फुट ऊंचे खञ्चित स्तम्भ हैं। दोनों पर अनेक मूर्तियाँ अंकित हैं।

5. त्यागद ब्रह्म स्तम्भ- इसका दूसरा नाम चागद कंब भी है। इसी स्थान पर खड़े होकर चामुण्डराय ने दान दिया था और अपने उपकारियों का उपकार स्वीकार किया था। यह स्तम्भ तीन -चार वर्ष पहले इस तरह अधर में लटका था कि हर कोई अपना रूमाल उसके नीचे से निकाल सकता था।[7] यहीं पर भगवान बाहुबली की प्रतिमा है जिसे चामुण्डराय ने बनवाया था। बाहुबलीजी के दरबार में जाने के लिए जो दरवाजा है इस दरवाजे की कुछ खासियत है। इसमें न कोई जोड़ है, न तोड़, न ही कहीं सीमेन्ट है और न कहीं चूना लगा है। एक बड़ी पर्वतशीला को काटकर के यह दरवाजा बनाया गया है। यह इतना मजबूत है कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हजारों लाखों वर्ष निकल जाने पर भी कभी नहीं टूटेगा। इसी का नाम अखण्ड वागिलु अर्थात् बिना जोड़ का द्वार है।

इस द्वार की नक्कासी देखने लायक है। बीच में लक्ष्मीजी की खिले कमल में विराजमान मूर्ति है, जिन्हें दो हाथी स्नान करा रहे हैं। यह चामुण्डराय ने बनवाया था।

6. ब्रह्म देव मन्दिर- यह छोटा सा देवालय विन्ध्यगिरि के नीचे सीढ़ियों के समीप है। इसमें सिन्दूर से रंगा हुआ एक पाषाण है जिसे लोग ब्रह्म या जारु गुप्पे अप्प कहते है।

7. गुल्लिकायिजी- यह मूर्ति भक्तराज गुल्लिकायि की है। इसे चामुण्डराय ने ही स्थापित करवाया था। इस स्तम्भ के ऊपरी भाग में तो यक्ष ब्रह्मदेव बैठे हैं जिनकी बहुत ही चमकदार आँखें हैं।

कहा जाता है कि जब चामुण्डराय ने यह मूर्ति बनवायी तो उन्हें घमण्ड हो गया और इस घमण्ड का नाश करने के लिए भगवान ने जल अभिषेक ग्रहण नहीं किया। कई बड़े-बड़े विद्वानों, योद्धाओं द्वारा तीर्थंकर की मूर्ति के जल चढ़ाने (जलाभिषेक करने) पर भी जल नीचे चरण कमल तक नहीं पहुँचा तब एक बुढियां, जो हाथ में छोटा सा पात्र लेकर आयी, उसी के जल से भगवान का अभिषेक हुआ। इसी वजह से बाहुबलीजी की मूर्ति के समीप ही गुल्लिकायिजी की मूर्ति की स्थापना हुई है, जिसके हाथ में जल-पात्र है।

8. गोम्मटेश्वर- अखण्डवागिलुद्वार से घुसने पर करीब 65 सीढ़ियां चढ़ने के बाद पर्वत शिखर के ऊपर अवस्थित एक बड़ा आंगन है, इसी में गोम्मटेश्वर भगवान की मूर्ति स्थापित है। इस परकोटे को भक्तराज गंगराज ने सन् 1166 ईस्वी में बनवाया था। गंगराज द्वारवती हलेबीड नगरी के परम प्रतापी होय्यसल सम्राट् विष्णुवर्धन के नौ सेनापतियों में से एक थे। ये परमवीर तो थे ही, साथ ही इनके समान जैन समाज में आज तक दूसरा कोई दानी नहीं हुआ। इस परकोटे की दीवार लोहे की बनी है । लगभग इसे 1000 वर्ष बने हो गये पर जरा सी भी कहीं से मोच नहीं आयी है। पत्थर की दो-दो फीट चौड़ी शिलाओं को काटकर उन्हें एक के ऊपर एक रखकर ये दीवारें खड़ी की गई हैं। ऋतुओं का कोई प्रभाव नहीं पड़ा मानो काल की तरह जन्म-जरा-मृत्यु से परे है।

इस परकोटे के भीतर मण्डपों में इधर - उधर कुल 43 जिन-मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हैं। अधिकांश मूर्तियाँ 4 फुट ऊंची हैं। पाँच-छह मूर्तियाँ 5 फुट तथा एक मूर्ति 6 फुट और तीन मूर्तियाँ तीन से साढ़े तीन फुट की हैं। परकोटे के सामने सिद्धर बस्ती है। परकोटे के द्वार पर दोनों बाजुओं पर 6-6 फुट ऊंचें द्वारपालक है। परकोटे के बाहर गोम्मटदेव के ठीक सम्मुख लगभग 6 फुट की ऊंचाई पर ब्रह्मदेव स्तम्भ है। इसमें ब्रह्मदेव जी की पद्मासन मूर्ति है। ऊपर गुम्मट है। स्तम्भ के नीचे पांच फुट ऊंचीं गुल्लिकायिज्जी की मूर्ति है।

बाहुबली भगवान की मूर्ति एक पहाड़ पर प्रतिष्ठित है, जो अपनी विशालता व सुन्दरता के लिए सभी को अपनी ओर आकर्षित करती है। शायद भगवान किसी की तरफ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देखते भी नहीं । भले ही दुनिया वाले उन पर फिदा होते रहे परन्तु भगवान की 1000 वर्ष की ध्यान मुद्रा में कोई अन्तर नहीं पड़ा। दक्षिण भारत में ये गोम्मटेश्वर नाम से प्रसिद्ध हैं परन्तु दिल्ली, आगरा, फरीदाबाद, मेरठ आदि उत्तरी भारत के किसी जैनी से पूछें तो वे इनका नाम बाहुबलजी ही बतलायेंगे। इस मूर्ति के दोनों ओर यक्ष और यक्षी की मूर्तियां हैं जिनके एक हाथ में चंवर तथा दूसरे हाथ में कोई फल है। इनके निर्माता डंकणाचार्य थे जिन्होनें हलेबिड बैल्लूर और सोमनाथपुर के अनुपम कारीगरी पूर्ण मन्दिर बनवाये।

मूर्ति के सम्मुख का मण्डप नौ देवताओं से सजा हुआ है । यह मूर्ति बिल्कुल दिगम्बर नग्नावस्था में है। टड्डार सीधी खड़ी है और उत्तरोन्मुख है। मूर्ति के विशाल चरण युगल पाषाणोत्कीर्ण कमल में विराजमान बताये गये हैं। शरीर का भारी बोझ सम्भालने के लिए टांगों के आगे पीछे की दिशा को बमीठों वल्मीक, बॉबी के रूप में छोड़ दी गई है। इसके अलावा इसका कोई आधार नहीं हैं। चारों तरफ से ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहाँ से कोई खड़ा होकर समूची मूर्ति को एक साथ दर्शन कर सके। इस मूर्ति का मुख बहुत सुन्दर है और शरीर का कोई भाग इसका मुकाबला नहीं कर सकता।

इसके नपे-तुले सभी अंग इसकी एक विशेषता है। सामान्यत: जिन अंगों का बड़ा होना चाहिये वे बड़े ही हैं जैसे- कानों का नीचला भाग विशाल और अजानुबाहु। यह मूर्ति नितान्त आडम्बरहीन और सादगीयुक्त है। फिर भी भारतीय शिल्पकला का अद्वितीय नमूना है। इसकी सुन्दरता का मूल कारण इसकी सादगी ही है। कंधों की विशालता इतनी अभूतपूर्व लगती है मानो बाहुबली भगवान के सारे शरीर का बल इन भुजाओं में इकट्ठा हो गया है। एक सीरे से दूसरे सीरे तक सीने की चौड़ाई 26 फुट है।

यह विशाल मूर्ति किस प्रकार यहाँ स्थापित हुई, इस संबंध में शंका की कोई गुंजाइश नहीं है। यह मूर्ति ग्रेनाइट की शिला को काटकर बनाई गई है, इसलिए प्रत्यक्ष रूप से ही यह असंभव है कि इसे कहीं दूसरी जगह बनाकर फिर बाद में विन्ध्यगिरि जैसे चिकने और ढलवां पहाड़ पर लाकर सीधी खड़ी कर दी गई हो। मूर्ति की विशालता के कारण मूर्ति के मध्य के पृष्ठ भाग को देखने के लिए ऊपर चढ़कर जाना होता हैं।

ज्यों-ज्यों इस मूर्ति को देखते है, त्यों-त्यों इसकी मनोज्ञता हृदय को आकृष्ट किये जाती है और उस शिल्पी अरिष्टनेमी की उंगलियों को धन्यवाद देती है, जिसने करीने से पत्थर में शिव एवं सौन्दर्य भर दिया। आज भी यह विशाल, मनमोहक दुनियाँ का एक सबसे बड़ा आश्चर्य है और जो आगामी हजारों वर्षों तक संसार को आश्चर्य में डाले रहेगी।

कहा जाता है कि अरिष्टनेमी ने इस मूर्ति को इतनी तल्लीनता से बनाया कि वह इस मूर्ति पर ही सोता था, खाता-पीता था। वह इस मूर्ति को बनाने में इतना तल्लीन हो गया कि छह महिने तक पत्नि बिना मिर्च-मसाले का भोजन लाती रही मगर उसे पता ही नहीं चला। जब मूर्ति बनकर तैयार हो गई और उसने अपने घर में खाना खाया तो वह बोला- क्या घर में मिर्च मसाले नहीं हैं। तब पत्नि ने कहा- छह महिने हो गये घर में मसाले लाए हुए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह अरिष्टनेमी का कला कौशल! एकाग्रता, तल्लीनता तथा काम के प्रति रुचि के साथ स्व चेतना का समर्पण।

दक्षिण के जैन मन्दिरों के विषय में सबसे अधिक स्मरणीय बात यह है कि ये सब स्थापत्य कला की दृष्टि से द्रविड़ शैली के हैं। द्रविड़ मन्दिरों में न तो शिखर ही है और न कलश है। ये यहाँ के मन्दिरों की खासियत है। इनकी विशालता से ऐसा लगता है मानो वे किले ही हों। इन सबके भीतरी भाग में जिसे गर्भगृह कहते है वहाँ तीर्थंकर की मूर्तियाँ विराजमान रहती हैं। इस भाग में प्रायः अंधेरा रहता है। गर्भगृह से जुड़ता हुआ नवरंग होता है। इसमें कम से कम 12 स्तम्भ वाला आंगन जरूर होता है। बाहरी भाग में द्वार के पास सुखनासी होती है। सुखनासी में प्रवेश सीढ़ियों द्वारा होता है। प्रायः मन्दिरों की रचना इसी तरह होती है। इनमें परिक्रमा नहीं होती।

इस प्रकार विन्ध्यगिरि के जैन -मन्दिर अपनी अलग छटा बिखेर रहे हैं और अपनी भारतीय संस्कृति की प्राचीनता, सौम्यता और स्थायित्व को दर्शाते हैं।

संदर्भ सूची :-

1. जैन धर्म का प्राचीन इतिहास, पृष्ठ-१७, १८,
   लेखक- बलभद्र जैन ,मै. केशरीचन्द्र श्रीचन्द चावलवाले, दिल्ली
2. दक्षिण भारत में जैन धर्म पृष्ठ- ११४
   लेखक- पं.कैलाशचन्द्र सिद्धान्ताचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन १९६७
3. जैन शिलालेख संग्रह, भाग-प्रथम पृष्ठ-१,२, ३
   श्री हीरालाल जैन ,श्री माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला समिति
4. जैन इतिहास और कला, पृष्ठ १६७,
   डॉ. वी. एस. द्विवेदी , श्री पब्लिशिंग हाउस नई दिल्ली-१९८७
5. जैन बद्री के बाहुबली और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ -पृष्ठ-१०,
   सुरेन्द्र पाल श्रीनाथ जी जैन, जैन पब्लिसिटी ब्यूरों, बम्बई-१९५३
6 जैन कला और स्थापत्य,
   अमलानंद घोष, भारतीय ज्ञानपीठ,नई दिल्ली-१९७५
7. जैन बद्री के बाहुबली और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ पृष्ठ -११,
   सुरेन्द्र पाल श्रीनाथ जी जैन, जैन पब्लिसिटी ब्यूरों, बम्बई-१९५३
8. महाभिषेक स्मरणिका ९१८-१९८१ पृष्ठ-५४

शोध-छात्रा
प्राकृत एवं जैनागम विभाग
जैन विश्वभारती संस्थान
लाडनूँ - ३४१३०६ (राजस्थान)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्या विद्युत् (इलेक्ट्रीसीटी) सचित्त तेउकाय है ?

जैन दर्शन एवं विज्ञान - दोनों आधारों पर विद्युत् यानी 'इलेक्ट्रीसिटी' सचित्त तेउकाय है या नहीं - इस विषय में मीमांसा की गई थी। उसी शृंखला में प्रस्तुत अंक में, 'अग्नि' के विषय में जैन आगम एवं जैन दर्शन और विज्ञान की मान्यताओं के विषय में विश्लेषण किया गया है तथा साथ में आकाशीय विद्युत्, इलेक्ट्रीक बल्ब, ट्यूब लाईट आदि के विषय में भी सभी दृष्टियों से प्रकाश डाला गया है। लेखक ने जहां जैन आगम-साहित्य का गहराई से अवगाहन किया है वहां स्वयं वैज्ञानिक होने के नाते आधुनिक विज्ञान की सभी अवधारणाओं को गहराई से समझ कर प्रस्तुत किया है। टिप्पण में सभी उद्धरणों को विस्तार से उद्धृत किया गया है जिससे पाठक विषय की पूर्ण जानकारी प्राप्त कर सके।

इसी लेख की तीसरी कड़ी इस अंक में प्रकाशित की जा रही है जिसमें विषय से सम्बद्ध अन्य विद्वानों के विचारों की समीक्षा एवं शंका-समाधान किया जाएगा। आशा है, सुधी पाठक इस समग्र लेख का पूर्वाग्रह-रहित अध्ययन करेंगे।

— सम्पादक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

9. बल्ब की प्रक्रिया -

इलेक्ट्रीक बल्ब जिसे 'incandescent lamp' कहा जाता है। क्या है ? कैसे बनता है ? उसकी क्या प्रक्रिया है ? उसमें शून्यावकाश है या नहीं ? उसमें ऑक्सीजन है या नहीं ? उसमें 'इनर्ट गैस' (निष्क्रिय वायु) क्यों भरी जाती है ? आदि आदि प्रश्नों को स्पष्ट समझना जरूरी है। निम्नलिखित इण्टरनेट से उपलब्ध सामग्री में ये सारे प्रश्न वैज्ञानिक दृष्टि से बहुत स्पष्ट किए गए हैं कि इसलिए इन्हें यहां अविकल रूप से हम अंग्रेजी में ही उद्धृत कर रहे हैं और फिर इसका पूरा अनुवाद दिया गया है :

How are incandescent light bulbs made? — SU

The glass enclosures are made from a ribbon of hot glass that's first thickened and then blown into moulds to form the bulb shapes. These enclosures are then cooled, cut from the ribbon, and their insides are coated with the diffusing material that gives the finished bulb its soft white appearance.

The filament is formed by drawing tungsten metal into a very fine wire. This wire, typically only 42 microns (0.0017 inches) in diameter is first wound into a coil and then this coil is itself wound into a coil. The mandrels used in these two coiling processes are trapped in the coils and must be dissolved away with acids after the filament has been annealed.

The finished filament is clamped or welded to the power leads, which have already been embedded in a glass supporting structure. This glass support is inserted into a bulb and the two glass parts are fused together. A tube in the glass support allows the manufacturer to pump the air out of the bulb and then reintroduce various inert gases. When virtually all of the oxygen has been eliminated from the bulb, the tube is cut off and the opening is sealed. Once the base of the bulb has been attached, the bulb is ready for use.

What types of gas are used in light bulbs and how do their effects differ? — SF, Westfield, (NJ)

The glass envelope of an incandescent bulb can't contain air because tungsten is flammable when hot and **would burn up if there were oxygen**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

present around it. One of Thomas Edison's main contributions to the development of such bulbs was learning how to extract all the air from the bulb. But a bulb that contains no gas won't work well because tungsten sublimes at high temperature..... its atoms evaporate directly from solid to gas. If there were no gas in the bulb, every tungsten atom that left the filament would fly unimpeded all the way to the glass wall of the bulb and then stick there forever. While there are some incandescent bulbs that operate with a vacuum inside, most common incandescent lamps contain a small amount of argon and nitrogen gases.

Argon and nitrogen are chemically inert, so that the tungsten filament can't burn in the argon and nitrogen, and each argon atom or nitrogen molecule is massive enough that when a tungsten atom that's trying to leave the filaments hits it, that tungsten atom may rebound back onto the filament. The argon and nitrogen gases thus prolong the life of the filament. Unfortunately, these gases also convey heat away from the filament via convection. You can see evidence of this convection **as a dark spot of tungsten atoms that accumulate at the top of the bulb.** That black smudge consists of tungsten atoms that didn't return to the filament and were swept upward as the hot argon and nitrogen gases rose.

However, some premium light bulbs contain krypton gas rather than argon gas. Like argon, krypton's is chemically inert. But a krypton atom is more massive than an argon atom, making it more effective at bouncing tungsten atoms back towards the filament after they sublime. Krypton gas is also a poorer conductor of heat than argon gas, so that it allows the filament to convert its power more efficiently into visible light. Unfortunately, krypton is a rare constituent of our atmosphere and very expensive. That's why it's only used in premium light bulbs, together with some nitrogen gas.

Incidentally, the filament in many incandescent bulbs is treated with **a small amount of a phosphorous-based 'getter' that reacts with any residual oxygen that may be in the bulb the first time the filament becomes hot. That's how the manufacturer ensures that there will be no oxygen in the bulb for the tungsten filament to react with.**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Why is an incandescent light bulb hotter than a fluorescent light ? — TU Woodbridge, VA

An incandescent light bulb produces light by heating a small filament of tungsten to about 2500^0 C. At that temperature, the thermal radiation that the filament emits includes a substantial amount of visible light. But the filament also emits a great deal of infrared light (heat light) and it also transfers heat via conduction and convection to the glass bulb around it. When you put your hand near the bulb, you feel both the infrared light and the heat that has worked its way to the surface of the bulb. The bulb feels hot.

In contrast, a fluorescent lamp tries to produce light without heat. It collides electrons with mercury atoms to produce an atomic emission of ultraviolet light. This ultraviolet light is then converted to visible light by the layer of white phosphor powders on the inside of the lamp's glass envelope. In principle, this whole activity can be performed without creating any thermal energy. However, many unavoidable imperfections cause the lamp to convert some of the electric energy it consumes into thermal energy. Nonetheless, the lamp only becomes warm rather than hot.

Why does an object like metal give off light when it is heated? — ER Fresno, CA.

All objects emit thermal radiation — electromagnetic waves that are associated with the transfer of heat. That's because all objects contain electrically charged particles and whenever electrically charged particles accelerate, they emit electromagnetic waves. Since all objects have thermal energy in them, their electrically charged particles are always undergoing thermal motion and their thermally induced accelerations cause them to emit electromagnetic waves.

At normal temperatures, the electromagnetic waves of thermal radiation are too low in frequency and too long in wavelength for us to see. But when an object's temperature exceeds about 500^0 C, the object emits a dim glow. By 1800^0 C, the objects emits the yellowish glow of a candle. By 2700^0 C, the objects emits the yellowish white light of an incandescent bulb. By 5800^0 C the object emits white light of the sun.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

How does a light bulb work ? — DH, Casselberry, FL (and also KH)

In a common incandescent light bulb, an electronic current flows through a double spiral coil of very thin tungsten wire. As the electric charges in the current flow through this tungsten filament, they collide periodically with the tungsten atoms and transfer energy to those tungsten atoms. The current gives up its energy to the tungsten filament and the filament's temperature rises to about 2500^0 C. While all objects emit thermal radiation, very hot objects emit some of the thermal radiation as visible light. At 2500^0 C object emits about 12% of its heat as visible light and this is the light that you see coming from the bulb. Most of the remaining heat emerges from the bulb as invisible infrared light or "heat" light. The glass enclosure shields the filament from oxygen because tungsten burns in air."

अनुवाद

प्रश्न - बल्ब लाईट (लट्टु) का निर्माण कैसे किया जाता है ?

उत्तर - बल्ब लाईट का काच का गोला गरम काच को पहले मोटा बनाकर बाद में बल्ब के आकार में ढ़ाल दिया जाता है। इस गोले को ठंडा करने के बाद इनके अंदर की तरफ ऐसे पदार्थ का लेप कर दिया जाता है जिससे उसका रंग सफेद दिखाई देता है।

टंगस्टन धातु का पतला तार (filament) बनाया जाता है जिसकी चौड़ाई केवल 42 माइक्रोन अर्थात् .0017 इंच) ही होती है। पहले उसका एक गुच्छा बनाया जाता है और इस गुच्छे को भी गुच्छे के रूप में बंट दिया जाता है। गुच्छे बनाने के लिए काम में लिए जाने वाले मेन्ड्रल को गुच्छों में ही फंसा दिया जाता है और फिर तेजाब की सहायता से उन्हें पिघला दिया जाता है।

तैयार फिलामेंट को ऊर्जा देने वाले लीड के साथ वेल्डिंग कर दिया जाता है। लीड (lead) को पहले से ही एक काच के आधार देने वाले ढ़ांचे के साथ जड़ दिया जाता है। इस आधार रूप काच को बल्ब के अन्दर उतार कर दोनों काचों का मिलन कर दिया जाता है। आधार रूप काच के अन्दर रही हुई नलिका के माध्यम से बल्ब के गोले में रही हुई हवा को बाहर पंप कर देने की सुविधा निर्माताओं को मिल जाती है और उसके बाद फिर उस गोले में दूसरी निष्क्रिय वायु भर दी जाती है। जब बल्ब में बचा हुआ ऑक्सीजन समाप्त प्रायः कर दिया जाता है तब नलिका को काट दिया जाता है और छिद्र को सील कर दिया जाता है। बल्ब के आधार को जोड़ने पर बल्ब उपयोग के लिए तैयार हो जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रश्न : बल्ब में किन-किन प्रकार की वायुओं को भरा जाता है और उनके प्रभावों में क्या-क्या भिन्नता है ?

उत्तर : बल्ब लाईट के कांच के आवरण के भीतर हवा को नहीं रखा जा सकता, क्योंकि टंगस्टन धातु (फिलामेंट) जब गरम होती है तो ज्वलनशील बन जाती है और यदि उसमें ऑक्सीजन विद्यमान हो, तो वह जल जाएगी। ऐसे बल्बों के विकास में थोमस (आल्वा) एडिसन का एक मुख्य अवदान यही था कि उन्होंने बल्ब की सारी हवा को बाहर निकालने की विधि सिखाई किन्तु जिस बल्ब में कोई गैस नहीं होती, बल्ब अच्छी तरह कार्य नहीं कर सकता, क्योंकि टंगस्टन (धातु) ऊंचे तापमान पर वाष्पीकृत हो जाती है अर्थात् उसके परमाणु घनावस्था से सीधे उड़कर वाष्पावस्था में चले जाते हैं। यदि बल्ब में कोई वायु न हो तो टंगस्टन का प्रत्येक परमाणु जो फिलामेंट से निकलेगा, वह बिना किसी रूकावट के सीधे ही बल्ब की काच की दीवारों में भीतरी भाग में हमेशा के लिए जमा हो जाएगा या चिपक जाएगा। केवल कुछ प्रकार की बल्ब लाइटें ही ऐसी होती हैं जिनमें अन्दर शून्यावकाश होता है, बाकी सामान्य बल्बों में थोड़ी मात्रा में आर्गन और नाइट्रोजन वायु होती हैं।

आर्गन और नाइट्रोजन वायु रासायनिक दृष्टि से निष्क्रिय है। इसलिए टंगस्टन का फिलामेंट आर्गन और नाइट्रोजन में ज्वलनक्रिया नहीं कर सकता, (क्योंकि ऑक्सीजन का अभाव है) उधर आर्गन और नाइट्रोजन के अणुगुच्छ इतने भारी होते हैं कि टंगस्टन के परमाणु, जो कि फिलामेंट से निकलता है, उनसे टकराता है और पुनः फिलामेंट की ओर लौट जाता है। इस प्रकार आर्गन और नाइट्रोजन वायु फिलामेंट के आयुष्य को बढ़ा देते हैं। दुर्भाग्य से ये वायु भी उष्मा को कन्वेक्शन के द्वारा फिलामेंट से ग्रहण करती रहती हैं। इसका प्रमाण यह है कि बल्ब के ऊपरी हिस्से में **टंगस्टन से निकले हुए परमाणु काले धब्बे** (Sanudge) **के रूप में जमा हो जाते हैं।** ऊपर दिखाई देने वाला काला धब्बा टंगस्टन के उन परमाणुओं के जमा होने से बनता है जो वापिस फिलामेंट में नहीं लौट पाते हैं, पर गरम आर्गन और नाइट्रोजन वायुओं के साथ ऊपर उठ जाते हैं।

कुछ विशेष लाइटों में बल्ब में "क्रिप्टॉन" गैस भरी जाती है जो आर्गन गैस की भांति ही रासायनिक दृष्टि से निष्क्रिय ही है। किन्तु क्रिप्टोन का परमाणु आर्गन के परमाणु की अपेक्षा से अधिक भारी होता है। इसलिए वह टंगस्टन के परमाणुओं को वाष्पीकृत होने के बाद वापिस फिलामेंट की ओर ढ़केलने में अधिक सक्षम होते हैं। क्रिप्टोन गैस का एक लाभ और भी है कि वह आर्गन की अपेक्षा उष्मा का मंदतर वाहक है, इसलिए उसकी उपस्थिति में फिलामेंट अपनी ऊर्जा को और अधिक मात्रा में दृश्य प्रकाश की ऊर्जा में परिवर्तित कर सकता है। दुर्भाग्य से क्रिप्टोन की मात्रा हमारे वातावरण में बहुत स्वल्प होने से उसका प्रयोग खर्चीला पड़ जाता है। इसीलिए उसका उपयोग केवल विशिष्ट लाइटों के बल्ब में किया जाता है तथा साथ में नाइट्रोजन का भी थोड़ा मिश्रण किया जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बल्ब में यदि कोई ऑक्सीजन बच भी जाए तो उसे नष्ट करने के लिए एक तरकीब और काम में ली जाती है। उसके लिए बल्ब के भीतर थोड़ा सा फास्फोरस-आधृत "गेटर" (लेप) होता है, जो भीतर बचे हुए ऑक्सीजन के साथ अनुक्रिया कर उसे समाप्त कर देगा जब पहली बार फिलामेंट को गर्म किया जाएगा। इस प्रकार बल्ब-निर्माता इस बात का पक्का निश्चय कर लेते हैं कि बल्ब में टंगस्टन के फिलामेंट के साथ अनुक्रिया करने वाला कोई ऑक्सीजन विद्यमान नहीं है।

प्रश्न — ट्यूब लाईट (फ्लोरेन्शन्स लाइट) की अपेक्षा बल्ब की लाइट अधिक गरम क्यों हो जाती है?

उत्तर — बल्ब की लाईट में रहा हुआ टंगस्टन का छोटा-सा फिलामेंट लगभग 2500 डिग्री सेल्सियस तक गरम हो जाता है। इस तापमान पर फिलामेंट जिन उष्मा-विकिरणों का उत्सर्जन करता है उनके साथ अच्छी मात्रा में दृश्य प्रकाश का भी उत्सर्जन होता है। किन्तु इसके साथ-साथ फिलामेंट अवरक्त (इन्फ्रारेड) विकिरणों का उत्सर्जन भी बड़ी मात्रा में करता है जो उष्मा-प्रकाश के रूप में है और उसके द्वारा उष्मा ऊर्जा को बल्ब के काच तक चालन (कंडक्शन) और संवहन (कन्वेक्शन) प्रक्रिया के माध्यम से पहुँचाया जाता है। जब कोई व्यक्ति बल्ब के समीप अपना हाथ रखता है तो उसे अवरक्त-प्रकाश तथा उष्मा इन दोनों की अनुभूति होती है तथा बल्ब गरम लगता है।

इसके विपरीत ट्यूब लाइट में —

फ्लोरेसेंट लाईट प्रकाश देती है, उष्मा पैदा नहीं करती। इसमें इलेक्ट्रोन का प्रवाह पारे (मर्क्यूरी) के परमाणुओं से टकराते हैं। इससे ये परमाणु अल्ट्रा-वायलेट (परा-बैंगनी) किरणों को उत्सर्जित करते हैं। ये किरणें ट्यूब की अंदर की दीवारों पर लिपे हुए फोस्फोरस पाउडर पर गिरती है जिससे दृश्य प्रकाश के रूप में इनका उत्सर्जन होता है। सिद्धान्ततः इस सारी प्रक्रिया को बिना किसी उष्मा-ऊर्जा उत्पादन के सम्पादित किया जा सकता है। फिर भी व्यवहार में कई अपरिहार्य अपूर्णताओं के कारण थोड़ी-बहुत विद्युत्-ऊर्जा उष्मा में परिणत हो ही जाती है जिसके फलस्वरूप ट्यूब गरम तो नहीं, मामूली कोष्ण (warm) हो जाती है।

प्रश्न — धातु जैसा पदार्थ जब गरम किया जाता है, तो प्रकाश क्यों देता है?

उत्तर — सभी पदार्थ उष्मा-विकिरणों का उत्सर्जन करते ही रहते हैं। ये विद्युत्-चुम्बकीय तरंगों के रूप में सभी पदार्थों से निकलती रहती हैं जिसके माध्यम से उष्मा (ऊर्जा) का हस्तान्तरण होता रहता है। यह इसलिए होता है कि सभी पदार्थों में विद्युन्मय आवेश-युक्त कण होते हैं और जब कभी इन विद्युत्-आवेश-युक्त कणों को प्रवेग मिलता है, उन पदार्थों में से विद्युत्-चुम्बक तरंगों का उत्सर्जन होता है। चूंकि सभी पदार्थों में अपनी-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपनी उष्मा-ऊर्जा विद्यमान होती ही है, उनमें रहे हुए विद्युत्-आवेश-युक्त कण निरन्तर रूप में उष्मा गति करते रहते हैं और इन उष्मा-प्रेरित प्रवेगों के कारण वे विद्युत्-चुम्बकीय तरंगों को उत्सर्जित करते रहते हैं।

सामान्य तापमान पर उष्मा-विकिरणों की विद्युत्-चुम्बकीय तरंगों की कम्पन-आवृत्ति (फ्रिक्वेंसी) इतनी कम होती हैं कि वे हमें दृष्टिगोचर नहीं हो पाती, किन्तु जब तापमान बढ़कर 500 डिग्री सेल्सियस के आस-पास पहुंचता है, पदार्थ एक मंद चमक वाली किरण उत्सर्जित कर देता है। 1000° से. तापमान पहुँचने पर पदार्थ से पीली रोशनी वाली मोमबत्ती जैसी चमक निकलती है। जब तापमान 2700 डिग्री से. के आस-पास पहुंचता है तब यह प्रकाश पीली-सफेद रोशनी वाला होता हैं जैसा बल्ब लाइट में दिखाई देता है। यदि 5800 डिग्री से. तक तापमान हो जाए, तो पदार्थ उसी प्रकार की सफेद रोशनी फेंकेगा जैसी सूर्य की रोशनी होती है।

प्रश्न — बल्ब लाइट कैसे कार्य करता है ?

उत्तर — सामान्य बल्ब लाइट में टंगस्टन के एक पतले दोहरे गुच्छे (कुंडली) वाले सर्पिल तार में विद्युत् प्रवाह बहता हैं। जब विद्युत्-प्रवाह में रहे हुए विद्युत् आवेश (वाले कण) तार फिलामेंट में से गुजरते हैं तब वे टंगस्टन धातु के परमाणुओं के साथ समयबद्ध रूप में टकराते हैं और अपनी ऊर्जा उन परमाणुओं को हस्तान्तरित करते रहते हैं। इस प्रकार विद्युत्-प्रवाह अपनी (विद्युत्) ऊर्जा को टंगस्टन के फिलामेंट को प्रदान करता है। जिससे टंगस्टन का तापमान बढ़ता-बढ़ता 2500 डिग्री से. तक पहुंच जाता है। (यह विद्युत्-ऊर्जा का ताप-ऊर्जा में परिणमन है।) वैसे तो सभी पदार्थ सामान्यतः उष्मा-विकिरण फैंकते रहते हैं, पर अत्यंत गरम पदार्थ अपनी उष्मा विकिरणों के कुछ हिस्से की दृश्य रोशनी के रूप में उत्सर्जित करते हैं। 2500 डिग्री से. तापमान वाला पदार्थ (टंगस्टन फिलामेंट) लगभग 12 प्रतिशत उष्मा-ऊर्जा को दृश्य रोशनी के रूप में उत्सर्जित करता है। इसी रोशनी को हम बल्ब लाइट से बाहर निकलती देखते हैं। उष्मा का शेष भाग (बहुलांश में) बल्ब से बाहर अदृश्य इन्फ्रा रेड (अवरक्त) विकिरणों के रूप में या उष्मा-ऊर्जा के रूप में (जिसे हम उष्मा-रोशनी कह सकते हैं) निकलता है। **बल्ब का काच का गोला (जो संवेष्ट करता है) फिलामेंट को आक्सीजन के सम्पर्क में आने से बचाता है, जिससे वह हवा में जलने से बच जाए। (यही प्रक्रिया स्वतः बल्ब और अग्नि के भेद को स्पष्ट करती है।)**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

10. ट्यूब लाइट की प्रक्रिया

ट्यूब लाइट में किस प्रकार प्रकाश पैदा किया जाता है, इस विषय में इंटरनेट से उपलब्ध सामग्री को यहां मूल अंग्रेजी में प्रस्तुत किया जा रहा है तथा इसका अनुवाद दिया है। इसी के साथ फ्लोरेसेंट लाइट, निओन लाइट आदि में क्या अन्तर है, यह भी स्पष्ट हो रहा है।

"A neon light is the sort of light you see used in advertising signs. These signs are made of long, narrow glass tubes, and these tubes are often bent into all sorts of shapes. The tube of a neon light can spell out a word, for example. These tubes emit light in different colours. A fluorescent light, on the other hand, is most often a long, straight tube that produces white light. You see fluorescent lights in offices, stores and some home fixtures. The idea behind a neon light is simple. Inside the glass tube there is a gas like neon, argon or krypton at low pressure. At both ends of the tube there are metal electrodes. When you apply a high voltage to the electrodes, the neon gas ionizes and electrons flow through the gas. These electrons excite the neon atoms and cause them to emit light that we can see. Neon emits red light when energized in this way. Other gases emit other colours.

A fluorescent light works on a similar idea but it has an extra step. Inside a fluorescent light is low-pressure mercury Vapour. When ionized, mercury Vapour emits ultraviolet light. Human eyes are not sensitive to ultraviolet light (although human skin is – see How Sunburns and Sun Tans Work). Therefore, the inside of a fluorescent light is coated with a phosphor. A phosphor is a substance that can accept energy in one form (for example, energy from a high-speed electron as in a TV tube – see How Television Works) and emit the energy in the form of visible light. In a fluorescent lamp, the phosphor accepts the energy of ultraviolet photons and emits visible photons.

The light we see from a fluorescent tube is the light given off by the phosphor that coats the inside of the tube (the phosphor fluoresces when energized, hence the name). The light of a neon tube is the coloured light that the neon atoms give off directly."

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुवाद —

निओन बत्ती (light) वह है जो विज्ञापन संकेतों में काम ली जाती है। ये संकेत बत्तियां लंबी, संकरी शीशे की नलिकाओं से बनती हैं। इन नलिकाओं को विभिन्न आकारों में मोड़ा जाता है। उन्हें किसी अक्षर-विशेष की दृष्टि से आकार दिया जा सकता है। इसमें भिन्न-भिन्न रंग की रोशनी उत्सर्जित होती है।

ट्यूब लाइट या फ्लोरेसेंट लाइट अधिकाशत: लंबी, सीधी नलिका से बनाई जाती है जिसमें सफेद रोशनी निकलती है। आफिसों, दुकानों या घरों में इन फ्लोरेसेंट लाइटों का प्रयोग किया जाता है।

निओन बत्ती का सिद्धान्त बहुत ही सरल है। उसमें ट्यूब के अंदर निओन, आर्गन या क्रिप्टोन जैसी गैस कम दबाव पर भरी जाती है। **(ऑक्सीजन नहीं होता।)** ट्यूब के दोनों छोर पर धातु के इलेक्ट्रोड लगाए जाते हैं। जब इलेक्ट्रोड्स पर उच्च वाल्टेज लगाया जाता है, तब निओन गैस के परमाणुओं का "आयनीकरण" होता है और इलेक्ट्रोन का प्रवाह गैस में से गुजरता है। ये इलक्ट्रोन निओन के परमाणुओं को उत्तेजित कर देते हैं और उसके फलस्वरूप वे रोशनी (प्रकाश) के रूप में ऊर्जा का विकिरण करते हैं जिसे हम देख सकते हैं। निओन गैस के परमाणु लाल किरणों का उत्सर्जन करते हैं। दूसरी गैसें दूसरे रंगों का विकिरण उत्सर्जित करते हैं।

फ्लोरेसेंट लाईटें (ट्यूब लाइटें) भी इसी प्रकार के सिद्धान्त पर कार्य करती है, किन्तु इसमें एक चरण और अधिक है। ट्यूब लाइट के अंदर कम दबाव पर मर्कुरी वेपर (पारे की वाष्प) भर दी जाती है। जब इसका आयनीकरण होता है, तब यह अल्ट्रा-वायलेट (परा-बैंगनी) विकिरणों का उत्सर्जन करती हैं। हमारी आंखें इन्हें देख नहीं सकती। (हां, हमारी चमड़ी इसके प्रति संवेदनशील होती है।) इसलिए ट्यूब लाइट के अंदर दीवार पर "फोस्फर" (स्फूरदीप्ति) यानी रोशनी का स्फुरण करने की क्षमता वाले पदार्थ का लेप लगा हुआ रहता है। इस पर अल्ट्रा-वायलेट किरणें गिरने से यह फोस्फर पदार्थ दृश्य रोशनी के रूप में प्रकाश-किरणों का उत्सर्जन करता है। फोस्फर पदार्थ का तात्पर्य है वह पदार्थ जो एक रूप में ऊर्जा को ग्रहण करता है। (जैसे- तेज गति वाले इलक्ट्रोन की ऊर्जा को टी.वी. ट्यूब में ग्रहण किया जाता है।) और दृश्य प्रकाश की तरंगों के रूप में उसी ऊर्जा को विसर्जन कर देता है। फ्लोरेसेंट लाइट या ट्यूब लाइट में फोस्फोर पदार्थ अल्ट्रा-वायलेट फोटोनों (प्रकाशाणु) की ऊर्जा को ग्रहण करता है और दृश्य फोटोनों (प्रकाशाणु) का उत्सर्जन करता है। (इसमें कहीं भी कार्बन, ऑक्सीजन आदि नहीं होते।)

इस प्रकार ट्यूब लाइट से आने वाली रोशनी जो हम देख रहे हैं वह फोस्फर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(स्फुरदीप्त) पदार्थ के द्वारा उत्सर्जित प्रकाश है, जो ट्यूब की अंदर की ओर परत के रूप में होता है। (यह फोस्फर पदार्थ जब ऊर्जा प्राप्त करता है, तो प्रतिदीप्ति (fluorescence) देता है, इसलिए इस लाइट को प्रतिदीप्ति लाइट कहा जाता है जबकि निओन बत्ती में नियोन गैस के परमाणु ही सीधे रंगीन प्रकाश का उत्सर्जन करते हैं।)

"Electrodes, tube light and sputtering

The electrode has the task of carrying current from the power-supply wires to the rare gas. Because it is continually subjected to the bombarding of electrons and ions, it heats up, and therefore must be designed to withstand heat. Since the metal is hot, it is highly active chemically, and may combine with gases or impurities within the tube. But by far the greatest difficulty with electrodes arises from what is knows as 'sputtering' Sputtering occurs when the electrode, under the impact of the heavy ions, flies to pieces bit by bit. The metal of the electrode gradually flies off and coats the inside of the glass tube. This effect in itself causes no harm since the blackening caused by the metal deposit is confined to the ends of the tubes near the electrodes. Eventually, of course, the entire electrode is consumed by the process, but since the action is very slow, the electrode will nevertheless last for normal life. However, sputtering is accompanied by a decrease of gas pressure in the tube. This loss of pressure eventually makes the tube inoperative.

The sputtered metal from the electrode absorbs some of the filled gas in the tube. As the gas is absorbed, the pressure in the tube is reduced, leading to what is called "hardening" of the tube. The reduced gas pressure means there are fewer gas molecules in the tube and the electrons and ions can travel greater distances before hitting each other or a gas molecule. These particles therefore can build up significant speed before they impact the electrode. The high-energy impact on the electrode causes a good deal of heat in the glass near the electrode. Eventually the glass, around the electrode will heat until the relatice vacuum in the tube seeks in the hot glass causing the tube to fail. In the early days, this sort of trouble was very common; in fact, the short life of tubes (due to sputtering) was one of the greatest hindrances to the commercial introduction of tube lighting."[115]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुवाद—

इलेक्ट्रोड का कार्य है-पावर सप्लाई से कंरट को विरल गैस तक पहुंचाना। चूंकि उस पर लगातार इलक्ट्रोनों एवं आयनों की बमवर्षा होती रहती है, वह गरम हो जाता है। इसलिए उसकी संरचना ऐसी होनी जरूरी है जिससे वह गरमी को बर्दाश्त कर सके। इलेक्ट्रोड की धातु गरम होने पर रासायनिक दृष्टि से सक्रिय हो जाती है और ट्यूब में मौजूद गैसों और अशुद्धियों के साथ संयोग कर सकती है। इससे भी बड़ी कठिनाई है— चिटकने की क्रिया के कारण होती है। "स्पूटरिंग" यानी चिटकना तब घटित होता है जब भारी आयनों के टकराव के द्वारा इलेक्ट्रोड की धातु धीरे-धीरे क्षीण होती जाती है अर्थात् इलेक्ट्रोड की धातु के परमाणु चिटकते रहते हैं और शीशे की ट्यूब के अंदर जमा होते जाते हैं। यह प्रक्रिया अपने आप में कोई हानिकर नहीं होती, पर इससे धातु की जो परत ट्यूब के अन्त में भीतर में जमती है, उससे ट्यूब का अंतिम हिस्सा जो इलेक्ट्रोड के पास है, श्यामल होता है। (यह श्यामीकरण "चिटकने" से होता है।) आखिर में तो पूरा इलेक्ट्रोड ही इस प्रक्रिया के कारण क्षरण-ग्रस्त हो जाता है। किन्तु चूंकि सारी क्रियाएं बहुत ही मंद गति से चलती है, इलेक्ट्रोड अपनी सामान्य अवधि तक चला जाता है। फिर भी चिटकने की प्रक्रिया के साथ ही ट्यूब में विद्यमान गैस का दबाव कम होता जाता है जिससे आखिरकार ट्यूब लाइट काम करना बंद कर देती है। (**"ब्लेकनिंग" का कारण कार्बन जमा होना नहीं है।**)

चिटकने वाली इलेक्ट्रोड के धातु-कणों द्वारा ट्यूब में विद्यमान गैस को ग्रहण कर लेने पर ट्यूब में गैस का प्रेशर कम हो जाता है। कम हुए दबाव का अर्थ है- ट्यूब में गैस अणुगुच्छों की संख्या में कमी। इससे इलेक्ट्रोन और आयन आपस में टकराने या गैस अणुगुच्छ से टकराने से पूर्व लंबी दूरी तय कर लेते हैं। इलेक्ट्रोड पर प्रभाव लाने से पूर्व वे तीव्र गति या वेग प्राप्त कर लेते हैं। उच्च ऊर्जा के कारण इलेक्ट्रोड में ट्यूब के अंतिम छोर के पास गरमी की अच्छी मात्रा पैदा हो जाती है। आखिरकार इलेक्ट्रोड के चारों ओर का शीशा गरम हो जाएगा। यह क्रम तब तक चलेगा जब तक सापेक्ष शून्यावकाश गरम काच में चूस न लिया जाए। परिणामस्वरूप ट्यूब काम करना बंद कर देगी। (प्रारंभ के दिनों में यह कठिनाई बहुत ही आई।) वस्तुतः तो ट्यूब का लघु जीवन-काल चिटकने के कारण ही होता है। इसी के कारण ट्यूब लाइट के व्यापार में प्रारम्भ में बड़ी कठिनाइयां आईं।

टिप्पणी :

115. WWW.Strattman.com/articles/luminous tubes. html.— "The Luminous Tube" An illuminating description of how neon signs operate." By Wayne Strattman, Page 1.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शंका-समाधान

पूर्वोक्त समग्र विवेचन से यह भलीभांति स्पष्ट हो जाता है कि इलेक्ट्रीसीटी या बिजली अपने आप में सचित्त तेउकाय नहीं है। अब इलेक्ट्रीसिटी के प्रयोग के कारण कहां तेउकाय की उत्पत्ति होती है और कहाँ नहीं होती, उस विषय में कुछ भ्रांतियां हैं। उनका निराकरण अपेक्षित है।

प्रश्न - 1 "स्वीच ओन करने के बाद, बल्ब, प्रकाश को फैलाता हुआ दिखाई देता है। जिससे इलेक्ट्रीक बल्ब में बिजली का प्रवेश और बल्ब के अन्दर से प्रकाश स्वरूप तेजाणु का बहिर्गमन सिद्ध होता है तथा जिस मार्ग से पुद्गल स्वरूप बिजली अन्दर प्रवेश करती है उस मार्ग से तार से या अन्य कोई मार्ग से उसके लिए प्रयोग्य जरूरी वायु-द्रव्य भी अंदर जा सकता है। कार्य हो वहाँ कारण को अवश्य मानना पड़ता है। कारण बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। जैसे जहाँ धुआँ होता है वहाँ आग का होना सिद्ध होता है। वैसे बल्ब में उष्ण प्रकाश की एवं अग्नि की हाजरी दिखाई देने से भगवती सूत्र में बताए गए पूर्वोक्त नियमानुसार वहाँ वायु का होना भी सिद्ध होता है, क्योंकि बिना कारण के कार्य नहीं हो सकता। यह तर्कशास्त्र का मूलभूत सिद्धान्त है।[1]

उत्तर- तार द्वारा जो विद्युत्-प्रवाह बल्ब के अन्दर पहुंचता है, वह धातु के तार की अपनी संरचना के कारण संभव है। विद्युत् की सुचालकता इसके लिए जिम्मेदार है। विद्युत्-प्रवाह के रूप में चलने वाले पुद्गल और अग्नि को जलाने वाली ऑक्सीजन वायु के पुद्गल में अन्तर है। तार विद्युत् का वाहक है, ऑक्सीजन या अन्य वायु का नहीं। इसलिए ऐसा मानना कि किसी भी तरह ऑक्सीजन या वायु अन्दर चली जाती है, न तर्कसंगत है और न विज्ञान संगत।

पहले तो विद्युत् को सचित्त तेउकाय या अग्नि के रूप में मान लेना और फिर उसको सिद्ध करने के लिए इस प्रकार का काल्पनिक आधार प्रस्तुत करना अपने आप में न्यायसंगत नहीं हैं। प्रत्युत् आगमवचन द्वारा जब स्पष्ट रूप से वायु के बिना अग्नि के अस्तित्व को अस्वीकार किया गया है तथा यह वायु ऑक्सीजन (या प्राण वायु) ही है, ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव से प्रमाणित हो रहा है तब उसके अभाव में तेउकाय के अस्तित्व को किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं किया जा सकता। बल्ब में ऑक्सीजन के सिवा अन्य वायु का अस्तित्व होने पर भी अग्नि नहीं हो सकती, क्योंकि वहां उपस्थित अन्य वायु निष्क्रिय है। यदि नाईट्रोजन, आरगोन आदि निष्क्रिय वायु में दहन-क्रिया संभव होती तो ऐसे वायु के अन्दर फिर दीपक आदि क्यों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बुझ जाते ? यह तो बहुत ही सामान्य प्रयोग के आधार पर भी ज्ञात हो सकता है कि निष्क्रिय वायुओं में अग्नि बुझ जाती है। यहां यह तर्क देना कि क्लोरिन या फ्लोरिन में लोहा जलता है, भी संगत नहीं है, क्योंकि बल्ब में क्लोरिन, फ्लोरिन भी नहीं होते।

प्रश्न- 2 यहाँ शायद किसी को शंका हो सकती है कि 'बल्ब के अन्दर वायु मौजूद हो और बिजली से वहाँ प्रकाश उत्पन्न होता है तो फिर बल्ब के टूट जाने के पश्चात् बिजली का प्रवाह विद्यमान होने पर भी बल्ब में प्रकाश क्यों नहीं होता ?' परन्तु यह शंका उचित नहीं है। इसका कारण यह है कि बल्ब के अन्दर अग्नि प्रकट करने में जितने प्रमाण में वायु की आवश्यकता होती है उस प्रमाण से बहुत ज्यादा वायु अथवा बल्ब में प्रकाशमान टंगस्टन तार का विरोधी वायु, बल्ब के टूट जाने पर वहाँ एकत्रित होने से लाईट बंद हो जाती है। वायु जहाँ होती है, वहीं अग्नि प्रकट हो सकती है- यह सिद्धान्त मान्य होते हुए भी जैसे चीमनीवाला जलता हुआ लालटेन चीमनी टूट जाने पर बाहर से वेग से आते हुए ज्यादा वायु के कारण बुझ जाता है, इस प्रकार से हम उपर्युक्त बात समझ सकते हैं।

व्यक्ति भोजन-पानी के आधार पर जीवित रहता है किन्तु ज्यादा प्रमाण में भोजन-पानी का उपयोग करने में आए तो वही भोजन उसकी मृत्यु का कारण भी बन सकता है। उसी प्रकार जहाँ वायु हो वहीं अग्निकाय उत्पन्न हो सकता है। यह बात सत्य है, किन्तु आवश्यकता से अधिक वायु का दबाव आने से अग्नि बुझ जाती है। फूंक मारने से दिया बुझ जाता है। तेल से जलते हुए दिये पर एक साथ ज्यादा तेल डालने पर वह बुझ ही जाता है। इसलिए कहा है-'अति सर्वत्र वर्जयेत्'। हालाँकि यह बात जन सामान्य समझ सके इस आशय से लौकिक दृष्टिकोण से बताई है। इस बात को वाचक वर्ग ध्यान में ले।

इसी घटना को साइन्स की दृष्टि से परखना हो तो ऐसा कहा जा सकता है कि वायर में से इलेक्ट्रीसीटी प्रसार होते समय यदि बल्ब टूटा हुआ हो तो बाहर के प्रतिकूल वायु के सम्पर्क से बल्ब का फिलामेंट जल जाता है। इसीलिए टूटा हुआ बल्ब प्रकाश नहीं देता। बल्ब में टंगस्टन धातु से बना हुआ एक पतला वायर होता है। उसे अंग्रेजी में 'फिलामेंट' कहते हैं। स्वीच को 'ओन' करते ही इलेक्ट्रीसीटी का फ्लो स्वीच से गुजर कर बल्ब में पहुँचता है। जब बल्ब में स्थित फिलामेंट में बिजली का प्रवाह पहुँचता है तब वह फिलामेंट गरम हो जाता है। यह गर्मी इतनी उग्र होती है कि वहाँ प्रकाश उत्पन्न होता है। टंगस्टन नाम की धातु ३४२० से. के तापमान पर पिघलती है तथा ५८६० से. तापमान पर उबलती है (देखिए बंसीधर शुक्ल कृत-प्रसन्निका विक्रमकोश पृष्ठ ५७) प्रकाशमान बल्ब के फिलामेंट में २७६० से. तापमान होता है, जिसकी वजह से बल्ब में बिजली की गर्मी से यह वायर पिघलता नहीं है, किन्तु टूटे हुए बल्ब में बाहर के प्रतिकूल वायु का फिलामेंट के साथ संयोग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और बिजली का वहाँ आगमन - यह दोनों घटनाएँ होने से फिलामेंट जल जाता है। इसीलिए टूटा हुआ बल्ब प्रकाशित नहीं होता।'[12]

उत्तर- जैसे उपर्युक्त दलील में पहले सचित्त तेउकाय का अस्तित्व मान लिया और फिर उसे सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया, उसी प्रकार प्रस्तुत दलील में भी देखा जा सकता है-

(1) कोई भी व्यक्ति इस प्रकार की दलील को कैसे स्वीकार कर सकता है ? बल्ब का प्रकाशित होना पहले अग्नि है ही नहीं, तो फिर प्रमाण से बहुत ज्यादा वायु अथवा विरोधी वायु से उसका बुझ जाना कैसे संगत है ? हम एक बार पुनः इलेक्ट्रीसिटी ऊर्जा के रूपान्तरण को समझें-

1. बल्ब में टंगस्टन का पतला तार जलता नहीं है, इलेक्ट्रीक ऊर्जा प्रकाश एवं उष्मा में रूपान्तरित होती है। वहां कंबश्चन (दहन) है ही नहीं, क्योंकि वहाँ ऑक्सीजन नहीं है।

2. इलेक्ट्रीक हीटर जो खुले आकाश में भी चलता है, वहाँ तो ऑक्सीजन विद्यमान है। वहाँ बहुत वेग वाली वायु से हीटर क्यों नहीं बुझ जाता ? वस्तुतः हीटर में तार का गर्म होना और उष्मा में बदलना इस क्रिया में ऑक्सीजन या वायु का कोई संबंध नहीं है।

3. बिजली-प्रवाह में जब प्रतिरोध होता है, तो पदार्थ में ताप उत्पन्न होता है यानि विद्युत्-ऊर्जा ताप-ऊर्जा में बदलने लगती है। बल्ब में अवरोध ज्यादा होता है। ताप की मात्रा अवरोध के समानुपाति है। छोटे तार की अपेक्षा लम्बा तार अधिक अवरोध पैदा करता है। बल्ब की अपेक्षा हीटर में तार लम्बा होता है, इसीलिए हीटर में तापमान अधिक पैदा होता है। तांबे का तार बहुत कम अवरोध पैदा करता है, अतः वह बहुत कम गर्म होता है जब बिजली का प्रवाह उससे गुजरता है। टंगस्टन की अवरोधकता तांबे की अपेक्षा अधिक है। उसके तार में विद्युत् प्रवाह का परिवर्तन उष्मा-ऊर्जा और प्रकाश-ऊर्जा में आसानी से होता है। टंगस्टन का पिघलांक ऊंचा होने से वह सामान्यतः पिघलता नहीं है।[3]

4. जब किसी चालक (तार) का तापमान उसके ज्वलन-बिन्दु तक पहुंच जाये और उसके आसपास की हवा से रासायनिक क्रिया का अवसर मिल जाये तो वह जल सकता है। इस जलने की क्रिया में ताप व प्रकाश पैदा होता है। इस रासायनिक क्रिया से उस चालक पदार्थ का ऑक्साइड बनता है।

5. धातु में विद्युत् धारा प्रवाहित होने से उस धातु में ताप की ऊर्जा पैदा होती है। यह ताप उसकी अवरोधक शक्ति पर निर्भर करता है। विद्युत्-प्रवाह से जो ताप पैदा होता है उससे हीटर में चालक (धातु) पदार्थ लाल गर्म हो सकता है या पिघलकर तरल रूप में बदल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सकता है जैसा फ्यूज में होता है। बल्ब में फिलामेंट बिना पिघले गर्म होने के बाद प्रकाश करता है।

6. इलेक्ट्रीक बल्ब* दो प्रकार के होते हैं-

(1) निर्वात (Vacuum)

(2) निष्क्रिय गैस वाले

निर्वात में रखे हुए टंगस्टन फिलामेंट (तंतु) में जब विद्युत् प्रवाह बहता है तब उसके अवरोध के कारण उसमें ताप और प्रकाश दोनों पैदा होते हैं। यह अग्नि की भांति जलने की क्रिया नहीं है। यहाँ ताप व प्रकाश के उद्गम का एक अन्य तीसरा कारण विद्युत् प्रवाह है तथा उस सुचालक पदार्थ की अवरोधकता एवं उच्च तापक्रम (लगभग 3000 डिग्री से.) पर भी बिना पिघले प्रकाश किरणें पैदा करने की क्षमता है। जब पहला बल्ब थोमस आल्वा एडिसन ने बनाया था तो निर्यात में फिलामेंट रखा गया था। लेकिन टंगस्टन धीरे-धीरे वाष्पीकृत होकर दीवारों पर जमता गया और बल्ब भूरा होने लगा। इसको कम करने के लिए निष्क्रिय गैसों का प्रयोग किया गया। वाष्पीकरण से फिलामेंट पतला होकर खत्म हो जाता है।

चूंकि बल्ब में जलने की प्रक्रिया का ही अभाव है, बल्ब में वायु की आवश्यकता ही नहीं है। फिलामेंट जब किसी निमित्त से पिघल जाता है जिसे हम फ्यूज होना कहते है, तब बल्ब स्वत: बुझ जाता है। फिलामेंट फ्यूज होने के निमित्तों में वाल्टेज बढ़ जाना भी एक निमित्त है। जैसे फूंक मारने पर मोमबत्ती बुझ जाती है, वैसे बल्ब वायु से बुझ जाता है-ऐसा मानना युक्तिसंगत नहीं है।

प्रश्न - 3 जब ट्यूब लाइट उड़ जाती है तब उसके अन्दर के भाग में साइड में कार्बन का जो कालापन सभी को दृष्टिगोचर होता है वह कहाँ से आया? एब्सोल्युट वेक्युम हो तो ट्युबलाइट में किसी भी प्रकार के वायु का प्रवेश हो ही नहीं सकता। विज्ञान के सिद्धान्त के अनुसार तो फोस्फरस का ऑक्सिडेशन होने से वहाँ उसका कार्बन में रूपान्तर हो जाता है। प्रस्तुत विचार में ऑक्सिडेशन का मतलब है ओक्सीजन के साथ संयुक्त होने से परमाणु में से अथवा परमाणु समूह में से इलेक्ट्रोन के निकल जाने से मूलभूत द्रव्य का नाश होने की प्रक्रिया। यदि ट्यूबलाइट में ऑक्सीजन इत्यादि वायु का सर्वथा अभाव हो तो ऑक्सिडेशन की प्रक्रिया शुरू ही नहीं हो सकती। तो फिर ट्यूबलाइट में फोस्फरस का कार्बन में रूपान्तर कैसे हो सकता है?

हाँ, दूसरी महत्त्व की बात है कि ट्यूब उड़ जाती है तभी ओक्सीडेशन की प्रक्रिया का प्रारम्भ होता है, ऐसी बात नहीं है। परन्तु ट्यूब में जब-जब इलेक्ट्रीसीटी प्रसार होती है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ट्यूब चालू होती है तब-तब ओक्सीडेशन की प्रक्रिया निरन्तर चालू ही रहती है। एक स्थिति ऐसी आ जाती है कि ट्यूबलाइट के ज्यादातर भाग का फोस्फरस ऑक्सिडेशन प्रोसेस से कार्बन के रूप में परिणत हो जाता है, तब ट्यूब बंध पड़ जाती है और इसके साइड में कार्बन के काले धब्बे दिखाई देने लगते है।[4]

उत्तर- हमने प्रथम भाग में ट्यूबलाइट की प्रक्रिया की सम्पूर्ण व्याख्या प्रस्तुत की थी तथा उसमें स्पष्ट किया था कि मूलतः ट्यूबलाइट में कहीं पर भी जलने की क्रिया नहीं होती है। उसमें ट्यूब में भरी हुई कम दबाव पर मर्क्यूरी-वेयर (यानी वाष्प रूप में पारे) में डीस्चार्ज द्वारा आयनीकरण किया जाता है तथा उस समय जो अल्ट्रा वायलेट विकिरण से स्फुरदीप्ति वाले पदार्थ प्रकाशित होने से ट्यूब का प्रकाश प्राप्त होता है। उसके साथ यह भी स्पष्ट किया था कि उसमें जो ''ब्लेकनींग'' (बाला धब्बा) होता है, वह कार्बन नहीं अपितु **इलेक्ट्रोड के धातु का ''स्पूटरींग'' यानी ''चिटकना'' या सरण की प्रक्रिया का ही परिणाम है।** उसमें बाहर से वायु या ऑक्सीजन के प्रवेश का कहीं अवकाश ही नहीं है। इसे ''फोस्फरस का आक्सीडेशन बताना'' नितान्त गलत है। न तो आक्सीडेशन होता है, न ही कार्बन की उत्पत्ति।

इसीलिए तेउकाय नहीं है। आकाशीय विद्युत् खुली हवा में तीव्र उष्णता, तीव्र प्रकाश, तीव्र वोल्टेज आदि के कारण अग्नि पैदा करती है जबकि ट्यूब में ऑक्सीजन का अभाव है, इसलिए तेउकाय का अभाव है।

इलेक्ट्रोनिक्स संयंत्रों में अर्ध वाहक (Semi-conductors) का प्रयोग होता है।[5] डायोड आदि की सर्किट, बटन-सैल आदि में सिलीकोन आदि अधातु पदार्थ का उपयोग किया जाता है जिसमें बहुत कम वोल्टेज पर भी विद्युत्-प्रवाह सक्रिय बनता है। इसमें तापमान की वृद्धि भी नहीं जैसी होती है। प्रकाश का विकिरण भी बहुत साधारण होता है। आक्सजीन का अभाव होता है। इन सब आधारों पर इन प्रक्रियाओं में कहीं भी तेउकाय का प्रंसग नहीं बन सकता।

प्रश्न-4. क्या इलेक्ट्रीक स्पार्क सचित्त तेउकाय नहीं है? जब स्वीच ऑन या ऑफ की जाती है, तब छोटा-सा स्पार्क होता ही है। इस चिनगारी में और अग्नि जलते समय (अंगारे आदि में से) निकलने वाली चिनगारी में क्या अन्तर है? यदि इलेक्ट्रीक स्पार्क सचित्त तेउकाय है, तो फिर साधु क्या स्वीच ऑन या ऑफ कर सकता है या करवा सकता है या करने का अनुमोदन कर सकता है?[6]

उत्तर- प्रथम भाग के पांचवें तथा छठे विभाग में हम विद्युत् चुम्बकीय तरंगों, गैसों में निरावेशीकरण आदि की चर्चा कर चुके हैं। उसके अन्तर्गत हर्ट्ज के प्रयोगों में ''इलेक्ट्रीक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्पार्क'' को विद्युत् चुम्बकीय ऊर्जा के विकिरण के रूप में बताया गया था।[7] गैसों में विभिन्न प्रेसर की स्थिति में तथा उच्च वाल्टेज द्वारा होने वाले निरावेशीकरण के प्रभाव से उत्पन्न ''स्पार्क'' या विद्युत्-चुम्बकीय-ऊर्जा के विभिन्न परिणमनों की चर्चा भी हम कर चुके हैं।[8] इस चर्चा से यही निष्कर्ष निकलता है कि स्पार्क के रूप में उत्पन्न विद्युत् धारा अपने आप में केवल विद्युत् चुम्बकीय ऊर्जा है। इसकी उत्पत्ति में कहीं कंबश्चन की रासायनिक क्रिया नहीं है। अग्निकण के रूप में होने वाली चिनगारी जिसे मुर्मुर कहा गया है, जलते हुए यानी कंबश्चन की प्रक्रिया करते हुए ठोस कण हैं। इसी प्रकार ऊनी शाल, पोलीथीन (या प्लास्टीक की थैली) आदि में उत्पन्न चिनगारी भी स्टेटिक इलेक्ट्रीसीटी का स्पार्क के रूप में यानी विद्युत् चुम्बकीय ऊर्जा के रूप में विकिरण है, जो अग्निकण (मुर्मुर) से भिन्न है।

इलेक्ट्रीक स्पार्क स्वयं तो अग्नि नहीं है पर अनुकूल संयोग मिलने पर अग्नि पैदा कर सकता है। अनुकूल संयोग में तीनों अनिवार्य आवश्यकता की पूर्ति होना जरूरी है-ज्वलनशील पदार्थ, ज्वलनबिंदु तक का तापमान तथा ऑक्सीजन। तीनों में से किसी के अभाव में अग्नि या कंबश्चन की प्रकिया घटित नहीं हो सकती। इन तीन अनिवार्यता की पूर्ति कहां होती है, कहां नहीं-इसे हम निम्नांकित उदाहरणों से स्पष्ट समझ सकते हैं-

1. ई.डी.एम. मशीन- इलेक्ट्रीक डीस्चार्ज मशीन से धातु को इलेक्ट्रीक स्पार्क से कुतरकर आकार दिया जाता है जो यानी सांचे के रूप में ली जाती है। इस मशीन में एक टंकी को केरोसीन से भर कर उसके नीचे के तल पर धातु रखी जाती है तथा इलेक्ट्रीक स्पार्किंग की क्रिया से धातु को यथेच्छ आकार दिया जाता है। इस संबंध में इंटरनेट से प्राप्त जानकारी इस प्रकार है[9]-

EDM: Principles of Operation

Electrical Discharge Machine (EDM) is accomplished with a system comprising two major components - a machine tool and a power supply. The machine tool holds a shaped electrode, which advances into the workpiece and produces a shaped cavity. The power supply produces a high frequency series of electrical spark discharges between the electrode and the workpiece, which removes metal from the workpiece by thermal erosion or vaporization.

The basic components of an EDM system are illustrated to the right. The workpiece is mounted on the table of the machine tool and the electrode is attached to the ram of the machine. A DC servo unit or hydraulic cylinder moves the ram (and electrode) in a vertical motion and maintains

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

proper position of the electrode in relation to the workpiece. The positioning is controlled automatically and with extreme accuracy by the servo system and power supply. During normal operation the electrode never touches the workpiece, but is separated by a small spark gap.

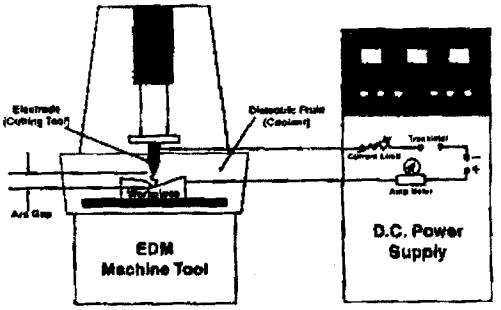

Basic EDM System

During operation, the ram moves the electrode toward the workpiece until the space between them is such that the voltage in the gap can ionize the dielectric fluid and allow an electrical discharge (spark) to pass from the electrode to the workpiece. These spark discharges are pulsed on and off at a high frequency cycle and can repeat 250,000 times per second. The spark discharge (are) always travels the shortest distance across the narrowest gap to the nearest or highest point on the workpiece. The amount of material removed from the workpiece with each pulse is directly proportional to the energy it contains.

Each discharge melts or vaporizes a small area of the workpiece surface. **This molten metal is then cooled in the dielectric fluid and solidifies into a small spherical particle (swart) which is flushed away by pressure motion of the dielectric.** The impact of each pulse is confined to a very localized area, the location of which is determined by the form and position of the electrode.

Both the workpiece and electrode are submerged in a dielectric fluid which acts as an electrical insulator to help control the spark discharges. In EDM, the dielectric fluid also performs the function of a coolant medium and reduces the extremely high temperatures in the arc gap. More importantly, the dielectric fluid is pumped through the arc gap to flush

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

away the eroded particles between the workpiece and the electrode. Proper flushing is critical to high metal removal rates and good machining conditions.

Because EDM erodes metal with electrical discharges instead of with chip machining cutting tools, the hardness of the workpiece does not determine whether or not a material can be machined by EDM. A relatively soft graphite or metallic electrode can easily machine hardened tool steels or tungsten carbide. This is one of the many attractive benefits of using the EDM process. Rather than machine a workpiece before heat treating, it can be EDMed afterward. This eliminates the risk of damage or distortion which could scrap an expensive workpiece during heat treating.

The basic principles of wire cut EDM are essentially the same as diesinking EDM described above. The major difference is that instead of using an electrode with a complex shape, in wire EDM the electrode is a simple wire typically .006 to .012 diameter, which follows a horizontal path through the workpiece. Instead of using dielectric oil as in die-sinking EDM. Wire EDM uses deionized water.

Development of EDM in the MIST

This paper examines the machining properties of a new EDM process which takes place in a sprayed mixture of gas and liquid. It, namely EDM in the mist or mist EDM, does not require a tank for working fluid like in conventional EDM. The most distinctive feature of it is non-electrolytic machining even if electrically conductive water is used as a fluid. Therefore, water or water soluble cutting or grinding oil can be used for working fluid so it will become easier to combine EDM with traditional machine tools.

EDM by Power Suspended Working Fluid

This paper presents some effects for finishing electrical discharge machining which uses powder in working fluid. Appropriate powder use gives 0.8 μm Rmax surface with the area of 25 cm2, and shortens the finishing time extremely. It is verified in some experiments that powder suspension brings about stable EDM even under micro-electrical condition because of large gap distance and good dispersion of discharge current.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

The proper choice of Hydrocarbon dielectric fluid for EDM applications, A comprehensive comparision

The commercially available large variety of dielectric fluids for EDM applications make the choice rather difficult. Are there any advantages or disadvantages using one or another product ? This paper describes a comparison test of 35 different hydrocarbon dielectric fluids in machining various metals using several different electrode materials.

Study on high quality finishing by EDM with nonflammable dielectric fluid

The use of kerosene as dielectric fluid in EDM is very common. However, from the point of safety, kerosene has many problems since it can cause a fire. Some studies were reported on EDM with nonflammable dialectic fluid. EDM with nonflammable dielectric fluid has an advantage over EDM with kerosene because it is free from fire and its rough-machining speed is faster. On the other hand, it has a drawback in that its finishing machining is unsatisfactory. In this report, the authors aim is to improve the efficiency of EDM with nonflammable dielectric fluid. The authors have found that the carbon which is made in the EDM process is responsible for the poor quality of the finished surface. Because it is electrified, the carbon adheres to the surface of the workpiece in the EDM process. The adhering carbon disturbs the machining stability, and degenerates the quality of the DEMed surface. In order to improve the machining capacity, the authors developed a new machining circuit. With this machining circuit, the voltage between the electrode and the workpiece is kept about 0 V, and the electrified carbon does not adhere to the workpiece. The performance of finish-machining is greatly improved.

Increasing the functionality of machined surfaces by EDM with a silicon powder additive

In EDM a very smooth finished surface can be obtained by adding a fine electrically conductive powder such as silicon to the machining fluid. Since this process produces an extremely corrosion resistant and micro crack free uniform surface, it is thought to be very effective in the finishing of dies for plastic molding. Increased effectiveness against corrosion is

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

particularly needed for molds in which corrosive gases develop from plastic molding. Increased effectiveness against corrosion is particularly needed for molds in which corrosive gases develop from plastic compounds.

In this paper, in order to investigate the effective application of EDMing using a power additive in the plastic mold finishing process, surfaces by Powder Additive EDM were compared to those finished by conventional polishing.

***Equivalent model of jump flushing EDM (Ist Report) Proposal of a Model Represented by Electric Circuit**

In die sinking EDM, the jump flushing is generally known to be useful to clean up the working gap. However, it is very difficult to adjust the jump parameters efficiently such as an amplitude and an execution timing of the jump motion with progress of machining. Because, in this process, optimal values of such parameters change widely with progress of machining and to adjust them an extensive expert knowledge about he jump control is required. Therefore, if a numerical equivalent model of the jump flushing EDM can be framed, it will be very useful for adaptive adjustment of the jumps parameters. This report describes a newly proposed equivalent model of the jump flushing EDM represented by an electrical way. Increasing process of the machining products in the working gap is converted to the charging process of a condenser in a DC electric circuit. Efficient jump timing is able to be computed from the rising time of the terminal volgate of the condenser to a threshold value which corresponds to critical density of the machining products for the safety sparking. Results of computer simulations based on the proposed model show that the machining characteristics of the jump flushing EDM could be reproduced sufficiently except for the very early stage of machining. Besides, it was found that approximate optimal values of the jump parameters could be computed easily.

Equivalent model of jump-flushing EDM (2nd Report)

Influence of Duty Factor of working Pulse

This study aims to represent the characteristics of the jump-flushing EDM by a simple mathematical model in order to realize suitable selections of jump parameters through computer simulations. In the previous report,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

we proposed a basic model from a consideration of similarity between the increasing process of machining produces in the working gap and the charging process of a capacitance in the DC electrical circuits. As a result, that model showed validities to represent a change in machining characteristics and jump parameters with progression of machining. In the present report, we propose an expanded model in which influences of duty factor of working pulses are taken into consideration. Computer simulations based on the new model showed that suitable jump parameters and rest time of working pulse are able to be estimated. Further expansion of the model will be possible by considering influences of peak current of pulse duration in the similar way of the duty factor.

Study on flushing for EDM (ist Report), proposal of 2D Small Vibration Method and Scan-Flushing Method

In EDM die sinking, an excess of debris is often produced during machining in the gap between the electrodes, reducing the removal rate and damaging the machined surface. In order to remove this debris, various methods such as fluid injection, jet flushing, jump motion, planetary motion and self-flushing have been used or proposed. With there methods, problems such as navel removal and idle time exist. In this article, 2D small vibration methods and scan-flushing method are proposed as new flushing methods to solve these problems. By using these methods, better machining efficiency and better surface accuracy can be obtained.

Study on flushing for EDM (2nd Report), Analysis and Simulation of the Effect of Jet Flushing for EDM

In the previous report, we developed a dynamic jet flushing method which is called 'scan flushing'. Experimental results clarified the effectiveness of this method on the precision of machining over conventional jet flushing method. Although good results of the scan-flushing were obtained, several parameters may influence the process. To help to optimize these parameters, a computational methods to simulate the process is proposed in this paper. It was confirmed that this simulation algorithm can represent the distribution phenomenon of debris with good correlation with the unevenness of the work piece surface produced.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Surface generation mechanism in electrical discharge matching with silicone powder mixed fluid

The surface generated by electrical discharge machining (EDM) appears to be generally mat finish. However the machined surface in EDM with silicon powder mixed fluid becomes glossier and has a smaller surface roughness than that in conventional EDM with kerosene type fluid which leads to the omission of hand finish lapping of metal molds. The quality of machined surface significantly depends on the kind of workpiece material. But the surface generation mechanism has not yet been made sufficiently clear. In this study the effect of silicon powder mixing on the surface generation mechanism is experimentally investigated, analyzing the shape of crater generated by single pulse discharge, the surface roughness, the machined surface and so on. The main conclusions obtained are as follows:

1. The gap distance in EDM with silicon powder mixed fluid is larger than that with kerosene type fluid, because of the lower resistivity of the former and the influence of silicon powder arrangement in the gap.
2. EDM with silicon powder mixed fluid leads to smaller undulation of a crater, because the smaller impact force acting on the workpiece due to evaporation and expansion of machining fluid.
3. The more the precipitated carbides in the workpiece are, the larger the surface roughness is, since the carbides come off because of crack propagation due to the frequent heat impact during EDM.
4. EDM with silicon powder mixed fluid results in the stable machining without short circuit between the electrode and the workpiece.

उक्त जानकारी के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि केरोसीन तेल में तीव्र इलेक्ट्रीक स्पार्क (discharge) पैदा होने पर भी आग नहीं लगती, क्योंकि केरोसीन के भीतर ऑक्सीजन उपलब्ध नहीं होता। यही स्पार्क यदि करोसीन की सतह पर होता तो भंयकर आग पैदा कर सकता था। इससे यह सिद्ध होता है कि **स्पार्क स्वयं अग्नि नहीं है।**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैसे ऊपर बताया गया है, मशीन में केरोसीन के स्थान पर "अज्वलनशील तरल पदार्थ" भी coolant के रूप में रखे जाते हैं जिससे खतरा पैदा न हो। यह सिद्ध करता है कि अज्वलनशील पदार्थ कितने ही उच्च वोल्टेज के बावजूद आग नहीं पकड़ते।

2. दूसरा उदाहरण है-अत्यधिक उच्च वोल्टेज के विद्युत् प्रवाह में "आयल सर्किट ब्रेकर" का उपयोग। इस व्यवस्था द्वारा जब सिकी फाल्ट के कारण वाल्टेज या करंट में अचानक वृद्धि होने पर सर्किट तोड़ दी जाती है। इस व्यवस्था में भी तेल के भीतर स्वीच रहने से ऑक्सीजन के अभाव में स्पार्क का डीस्चार्ज केवल "फ्लेश" पैदा करेगा पर अग्नि नहीं। "आयल सर्किट ब्रेकर" की जानकारी टिप्पण में दी गयी है।[10]

3. तीसरा उदाहरण- ऊनी शाल या प्लास्टीक से निकलने वाले इलेक्ट्रीक स्पार्क। यह स्पार्क यद्यपि खुली हवा में आक्सीजन के साथ सम्पर्क में होता है तथा ज्वलनशील पदार्थ - ऊन, प्लास्टीक आदि भी विद्यमान है पर पर्याप्त तापमान के अभाव के कारण 'आग' नहीं लगती अन्यथा ऊनी शाल या कम्बल अथवा प्लास्टीक की थैली आदि जल जाते हैं। "थ्रेसोल्ड" तापमान के अभाव में यानी ज्वलनबिन्दु से कम तापमान में जो विद्युत् चुम्बकीय ऊर्जा या विकिरण होता है, वह "कंबश्चन" की प्रक्रिया करने में सक्षम नहीं है। इसी आधार पर जैन साधु के लिए ऊनी शाल का प्रयोग हजारों वर्षों से मान्य है। **यदि इन चिनगारियों को भी "मुर्मुर" की कोटि में रखी जाए, तो फिर ऊनी शाल का प्रयोग जैन साधु कैसे कर सकते हैं?**

अब हम मूल प्रश्न पर आते हैं-

उत्तर- विद्युत्-पथ (Cicuit) को बाधित करने के लिए स्वीच का प्रयोग किया जाता है। ज्योंही स्वीच ऑन होता है, खाली स्थान में डीस्चार्ज गुजरता है जो क्षणिक ही होता है। यहाँ खाली स्थान में हवा (ऑक्सीजन) भी विद्यमान है पर डिस्चार्ज की तीव्रता का आधार वोल्टेज पर है। अति तीव्र वोल्टेज हो तब तो स्पार्क का तापमान भी अत्यधिक हो सकता है, जो थ्रेसोल्ड तापमान से अधिक होने से तेउकाय की उत्पत्ति का निमित्त बन सकता है।

यदि तापमान (न्यूनतम सीमा) से नीचे हो, तो स्पार्क हवा के सम्पर्क में भी अग्नि यानी कंबश्चन की क्रिया नहीं कर सकता है। इसीलिए जहां उच्च वाल्टेज का विद्युत्-प्रवाह होता है वहां आग की संभावना बनी रहती है, जिसे टालने के लिए स्पार्क को किसी भी Coolant द्वारा मंदीकृत किया जाता है तथा ऑक्सीजन के सम्पर्क में ना आए, ऐसी सावधानी रखी जाती है। 'फ्यूज' की व्यवस्था भी इसीलिए की जाती है कि अधिक वाल्टेज होने पर फ्यूज का तार पिगल जाता है और सर्किट टूट जाती है, जिससे आग नहीं लग सकती। सामान्य वाल्टेज पर स्वीच में होने वाले स्पार्क का हवा से सम्पर्क होने पर भी मंद ऊर्जा होने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के कारण अग्नि की क्रिया नहीं होती। अकस्मात् किसी कारण से वाल्टेज में अत्यधिक वृद्धि हो जाए तथा अन्य सावधानी न हो, तो कभी-कभार स्वीच का स्पार्क भी खतरा बन जाता है। यह केवल आपवादिक है।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि सामान्यत: स्वीच ऑन करने में होने वाले स्पार्क में अग्नि आन करने में होने वाले स्पार्क में अग्नि की उत्पत्ति नहीं है। यह वैसा ही है जैसा ऊनी कंबल, पोलीथीन आदि के प्रयोग में स्पार्क होते हैं, पर आग नहीं लगती।

प्रश्न 5. क्या माइक-लाईटड-फोन-फैक्स टेलेक्ष इत्यादि इलेक्ट्रीसीटी आधारित साधनों का उपयोग साधु कर सकते हैं ?

उत्तर- प्रथम तो यह समझना है कि इन सब साधनों का प्रयोग यदि गृहस्थ अपनी सुविधा के लिए करते हैं, तो उसमें साधु दोष के भागी कैसे बनेंगे ?

दूसरी बात है- इलेक्ट्रीसीटी के उपयोग वाले साधनों में क्या तेउकायिक जीव की विराधना होती है ? जैसे पूर्व चर्चा से स्पष्ट हो चुका है कि इलेक्ट्रीसीटी स्वयं निर्जीव है। उस आधार पर इन साधनों के प्रयोग में से तेउकायिक जीव की विराधना का प्रसंग कैसे आएगा ? इस संबंध में भी पूर्व प्रश्नों में स्पष्टीकरण हो चुका है।

अब बात रहती है व्यवहार की। व्यवहार की दृष्टि से यही उचित है कि साधु न स्वयं इनका प्रयोग करे, न औरों से करवाए (न अनुमोदन करे)। लाइट आदि का गृहस्थों द्वारा अपने उपयोग के लिए जो प्रयोग होता है, तो उससे प्राप्त सहज प्रकाश आदि का उपयोग साधु द्वारा किए जाने पर कोई दोष नहीं लगता। (इसकी चर्चा हम कर चुके हैं।)

प्रश्न 6- बल्ब वगैरह में स्थूल रूप से ही वेक्युम किया जाता है। इसलिए तथाविध पतली हवा स्वरूप वायुकाय का वहाँ अस्तित्व मानने में कोई विरोध नहीं है।

यदि बल्ब में 100 प्रतिशत शून्यावकाश करने में आए तो फिलामेंट में उत्पन्न होने वाला प्रकाश और उष्णता बल्ब की काच की दीवाल तक पहुँच ही नहीं पाएँगे, क्योंकि फिलामेन्ट में से बल्ब की दीवाल तक पहुँचने के लिए कोई वाहक द्रव्य ही नहीं है। वाहक द्रव्य के बिना प्रकाश, उष्णता और प्रकाश को बल्ब की काच की दीवाल तक पहुँचाने में सहाय कर सकता है।

"वास्तव में जिनागम के सिद्धान्तों को साइन्स की दृष्टि से विचारना हो तो उसके पूर्व साइन्स का व्यवस्थित अध्ययन कर लेना चाहिए, जिससे जिनागम एवं साइन्स दोनों में से किसी का भी अन्याय न हो। ऐसा हो तभी कुछ अंश तक प्रामाणिकता रखी है-ऐसा कहा जा सकता है।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रश्न-6 इस प्रश्न का तात्पर्य है - क्या प्रकाश या उष्मा को प्रसारित होने के लिए माध्यम की अपेक्षा है ? बल्ब आदि में ऐसा माध्यम न हो तो, प्रकाश प्रसारित कैसा होगा ?

उत्तर- वैज्ञानिकों के अनुसार प्रकाश या उष्मा-तंरगों को प्रसारित होने के लिए किसी भौतिक माध्यम की अपेक्षा नहीं है। ये तरंगें इलेक्ट्रो मेग्नेटीक है जो बिना माध्यम प्रसारित हो सकती है। वैज्ञानिक अवधाराणाओं का अपने आग्रह को सिद्ध करने के लिए तोड़ मरोड़ कर प्रस्तुत करने से वैज्ञानिक दृष्टि वाले व्यक्ति पर तो उल्टा प्रभाव ही पड़ेगा।

जब यह विज्ञान का सर्वमान्य तथ्य है कि प्रकाश-तरंग, उष्मा-तरंग आदि विद्युत्-चुम्बकीय तंरगें हैं जो शून्य में भी प्रसारित होती हैं। इसी आधार पर आइन्स्टीन ने ईथर नामक काल्पनिक माध्यम को अस्वीकार किया था। ध्वनि की तंरगें बिना माध्यम नहीं चलती, इसीलिए वैक्युम में वह अवरुद्ध हो जाती हैं।

प्रश्न-7 ''जैनागम अनुसार भी प्रकाशमान बल्ब में पुद्गल द्रव्य का अस्तित्व सिद्ध होता ही है। इसलिए जैनागम अनुसार भी बल्ब में एब्सोल्युट वेक्युम का स्वीकार नहीं किया जा सकता। स्वीच ओन करने से पूर्व बल्ब में प्रकाश नहीं था। स्वीच ऑन करने के बाद बल्ब में प्रकाश उत्पन्न होता हुआ दिखाई देता है। इसलिए बल्ब में पीछे से इलेक्ट्रोन आदि पुद्गल द्रव्य का प्रवेश तो सिद्ध होती ही है। इस प्रकार जिस वायर के माध्यम से बल्ब में इलेक्ट्रीसीटी प्रवेश कर सकती है, उसी मार्ग से अथवा अन्य मार्ग से वहाँ तथविध वायु भी प्रविष्ट हो सकता है। इतना तो निश्चित ही है।''[12]

''इंटरनेट के माध्यम से निम्नलिखित जानकारी प्राप्त हुई है''- ''लाइट-बल्ब के अन्दर अधिकतर हवा बाहर निकाल दी जाती है। यदि ऐसा नहीं किया जाए तो वह तार वास्तविक रूप से तुरंत जल जाएगा। जब कोई बिजली का ग्लोब उड़ जाता है तब उसका कारण यह है कि टंगस्टन का तार धीरे-धीरे वाष्प में रूपांतरित हो जाता है।''[13]

''यहाँ हम देख सकते हैं कि 'अधिकतर हवा' ऐसा उल्लेख करने में आया है। **इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि बल्ब में कुछ अंश में हवा होती ही है।** ऑक्सीजन आदि वायु भी वहां कुछ अंश में विद्यमान होता ही है अन्यथा ऑक्सिडेशन की प्रक्रिया पर आधारित फिलामेंट का राख में रूपान्तर = कार्बन रूप में परिवर्तन बल्ब में संभव ही नहीं है। ऑक्सिजन के अभाव में ऑक्सिडेशन किस प्रकार से संभव हो सकता है ? ऑक्सिजन के साथ संयोगीकरण होने से परमाणु में से अथवा परमाणु समूह में से इलेक्ट्रोन को दूर करने से मूलभूत वस्तु का नाश होने की प्रक्रिया को विज्ञान की परिभाषा के अनुसार ऑक्सिडेशन कहते है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसका दूसरा नाम 'डी-इलेक्ट्रोनेशन' है। यद्यपि विज्ञानकोश-रसायन विज्ञान (भाग-५, पृष्ठ-२२७-२३०) में बताए अनुसार क्लोरिन, फ्लोरिन, ओजोन वायु की हाजरी में भी ऑक्सीडेशन हो सकता है परन्तु बल्ब में तो क्लोरिन वगैरह वायु नहीं होते है। इसलिए वहाँ पर होने वाली ऑक्सिडेशन की प्रक्रिया ऑक्सिजन आधारित माननी पड़ती है अथवा ऑक्सिडेशन के लिए आवश्यक किसी भी प्रकार के वायु का वहाँ पर अस्तित्व तो मानना ही पड़ेगा। तथाविध वायु की गेरहाजरी में तो ऑक्सिडेशन संभव ही नहीं है। इसलिए विज्ञान के सिद्धान्त में तो ऑक्सिडेशन संभव ही नहीं है। इसलिए विज्ञान के सिद्धान्त के अनुसार भी बल्ब में वायु का अस्तित्व सिद्ध होता ही है।

"हाँलाकि वर्तमान समय में साइन्टिस्ट नाइट्रोजन और आर्गन वायु को बल्ब में रखते ही हैं। इन्टरनेट से यह जानकारी निम्न शब्दों में है-टंगस्टन का तरल द्रव्य में रूपातंर हो कर गैस स्वरूप में वाष्पी भवन घटाने के लिए अथवा टंगस्टन का सीधा गैस स्वरूप में रूपान्तर (Sublimation)रोकने के लिए पिछले वर्षों में ग्लोब में निष्क्रिय वायु जैसे कि नाइट्रोजन और आर्गन मिलाने में आए।"[14]

आवर्त कोष्टक के शून्य समूह के हिलियम, नियोन, आर्गन, क्रिप्टोन, झेनोन, रेडोन, नाइट्रोजन वगैरह वायु को उमादा वायु कहे जाते हैं। ये उमदा वायु (inert gases) इलेक्ट्रोन गुमाने का अथवा प्राप्त करने का अथवा इलेक्ट्रोन की भागीदारी करने की कोई भी वृत्ति नहीं रख सकते हैं। (इस प्रकार की वायु स्वयं के अलावा दूसरे किसी भी मूल तत्व के परमाणु के साथ रासायनिक क्रिया नहीं करती, क्योंकि उसकी सभी कक्षाएँ और उपकक्षाएँ इलेक्ट्रोन से भरी हुई होती हैं। इस प्रकार से वे सभी रासायनिक रूप से तटस्थ हैं। इस प्रकार से दूसरे किसी मूल तत्त्वों का संसर्ग नहीं करने से वे उत्कृष्ट वायु कहे जाते हैं। (विज्ञानकाश-भौतिक विज्ञान-भाग-७, पृष्ठ ६४, लेखक पी. ए. पी. में से साभार उद्धृत)) इसलिए इन वायुओं को निष्क्रिय वायु के तौर पर भी पहचाने जाते हैं। (डो.सी.बी.शाह, विज्ञानकोश, भाग-५, पृष्ठ-१४७) इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए विज्ञानकोश रासायण विज्ञान पुस्तक में डॉ. एम.एम. देसाई ने बताया है कि 'निष्क्रिय वायु स्थाई होते हैं' - (गुजरात युनिवर्सिटी, अहमदाबाद से प्रकाशित भाग-५, पृष्ठ-४९.)

इसलिए लम्बे समय तक बल्ब को प्रकाशित करने में नाइट्रोजन इत्यादि वायु सहायक होते हैं। नियोन भी निष्क्रिय वायु होने से विद्युतदीया, नियोन ट्यूब, नीलदीप्त प्रकाशनलिओं की रचान, स्पार्क चेम्बर वगैरह में भरने के काम में आता हैं। (देखिए विज्ञानकोश भाग-५, पृष्ठ-४१३) हेलोजन लेम्ब में हेलोजन वायु भरते हैं। नियोन ट्यूब, सोडीयम वेपर लेम्प, मर्क्युरी लेम्प वगैरह में नियोन, सोडीयम वेपर, मर्क्युरी वेपर वगैरह वायु भरने में आते हैं। यह बात भी प्रसिद्ध है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुजरात समाचार ता. २६-६-२००२ बुधवार की पूर्ति में 'इलेक्ट्रीक लाइट कैसे काम करती है ? इस हेडिंगवाले लेख में भी बताया गया है कि "क्या आप जानते हैं कि बल्ब में वायु भी होती है ? हाँ, बल्ब में वायु भी होती है जिसका नाम है आर्गन'। यह वायु टंगस्टन के साथ जुड़ नहीं सकती। इसीलिए उसे बल्ब में भरा जाता है।"

१. ई.स. १९२० तक आर्गन वायु का उपयोग उद्दीप्त दीया भरने में होता था। आर्क वेल्डींग में अनिच्छनीय ओक्सीडेशन रोकने के लिए प्रतिदीप्त दीया, (Flourscent Lamp) इलेक्ट्रोनिक नलियाँ वगैरह भरने के लिए उसका उपयोग होता है। (विज्ञानकोश-रसायण विज्ञान भाग-५,पृष्ठ-५५ कु.सी.वी. व्यास कृत-'आर्गन' प्रकरण में से साभार उद्धृत)। यह वायु टंगस्टन के साथ जुड नहीं सकता। इसीलिए उसे बल्ब में भरा जाता है।

लोकप्रकाश ग्रंथ के पांचवें सर्ग में पूज्य उपाध्याय श्री विनय विजयजी महाराज तथा पंचसंग्रह की व्याख्या में श्री मलयगिरिसूरिजी ने तो स्पष्ट रूप से कहा है कि-

"लोकस्य हि यत् किमति सुषिंर तत्र
सर्वत्र अपि पर्याप्तबादरवायवः प्रसर्पन्ति।
यत् पुनः अतिनिबिडनिचिताऽवयवतया
सुषिरहीनं कनकगिरिमध्यादि तत्र न॥"

(पंचसं. वृत्ति-द्वार=२ गाथा २५)

अर्थात् जहाँ पोलापन होता है वहाँ बादर पर्याप्त वायुकाय अवश्य होता है। मेरुपर्वत के पोलाण-शून्य और अत्यन्त निबिड़ ऐसे मध्य भाग में वायुकाय नहीं होता है। इसके अलावा समग्र विश्व में जहाँ-जहाँ पोलापन है वहाँ अवश्य बादर पर्याप्त वायुकाय अथवा वायु द्रव्य का अस्तित्व शास्त्रसिद्ध है। जीवन समासव्याख्या में मलधारी श्री हेमचन्द्रसूरिजी महाराज ने भी यही बात कही है—

लोकस्य हि यावत् किमपि शुषिंर तावति सर्वस्मिन्नपि वायवः सञ्चरन्त्येव।
यत्पुनः अशुषिरं घनं कनकगिरिशिलामध्यभागादिकं तत्रैव ते न प्रसर्पन्ति।

(जीवसमास गा.१८० वृत्ति)

पन्नवणा सूत्र व्याख्या में भी आचार्यश्री मलयगिरिसूरिजी महाराज ने स्पष्ट बताया है कि 'यत्र सुषिंर तत्र वायुः' (पद -२ सूत्र ४०, पृष्ठ-७८) अथार्त् जहाँ पोलापन होता है वहाँ वायु होता है। बल्ब अन्दर से एकदम ठोस, घन नहीं होता। इसलिए बल्ब के अन्दर वायु का अस्तित्व सिद्ध होता है। इसलिए बादर वायु वाले अथवा निर्जीव वायुवाले बल्ब वगैरह में अग्निकाय को उत्पन्न होने में कोई भी दिक्कत बाधा आगम की दृष्टि से नहीं आती है।

इसी प्रकार बल्ब में संपूर्ण शून्यावकाश तो विज्ञान अथवा जैनागम दोनों से किसी एक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को भी मान्य नहीं है। तब फिर 'बल्ब में शून्यावकाश होने से वायु नहीं है और वायु नहीं होने से अग्नि उत्पन्न नहीं हो सकती' ऐसा कैसे कहा जा सकता है ? स्वीच ओन करने के बाद बल्ब में इलेक्ट्रीसीटी का प्रवेश तथा प्रकाश की उत्पत्ति साइन्स को भी मान्य है और यह बात अनुभव सिद्ध भी है। तब फिर तुल्य युक्ति से बल्ब में आवश्यक वायु का प्रवेश मानने में क्या एतराज हो सकता है ? तथा विद्युत् प्रकाश को सजीव मानने में आगम-विरोध भी किस प्रकार से आ सकता है ? क्योंकि उसके लक्षण वहां देखने को मिलते ही हैं। अत्यन्त तपे हुए लोहे के गोले के मध्य भाग में वायु का अस्तित्व शास्त्र मान्य ही है।[15]

उत्तर-बल्ब के विषय में हमने विस्तार से पूर्व भाग के नवें प्रभाग में चर्चा की है। उसी के सन्दर्भ में प्रस्तुत प्रश्न को समझना होगा-

1. जैसे प्रश्न में ही स्पष्ट लिखा है-''यदि ऐसा नहीं किया जाए तो वह तार वास्तविक रूप से तुरंत जल जाएगा।'' इससे स्पष्ट होता है कि ऑक्सीजन नामक वायु को बल्ब से हटाना जरूरी है। एब्सोल्युट वेक्यूम भले न हो पर ऑक्सीजन को तो बल्ब में से हटाए बिना तार का कंबश्चन होने की संभावना रहती है जिसे ''आक्सीडेशन'' कहा जाता है। (यहाँ आक्सीडेशन का यही अर्थ है, डी-इलेक्ट्रोशेन का तात्पर्य नहीं है।) इसलिए यह मानना कि ''थोड़ा ऑक्सीजन अंदर रह जाता है या प्रवेश कर लेता है'' बिल्कुल गलत है। बल्ब बनाने वाली कम्पनी यह सुनिश्चित करके ही बल्ब का मेनूफेक्चर करती है कि उसमें ऑक्सीजन का अंश मात्र भी न रहे।

2. निष्क्रिय वायु भरे हुए बल्ब में शून्य (निर्वात) है पर वायु की निष्क्रियता के कारण अग्नि पैदा हो नहीं सकती।

3. मूल प्रश्न यह नहीं है कि बल्ब में एब्सोल्युट वेक्युम है या नहीं ? मूल प्रश्न यही है कि जो फिलामेंट प्रकाश देता है, वह क्या अग्नि के रूप में प्रकाश देता है ? क्या वहाँ ऑक्सीजन है ?

उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट हो रहा है कि प्रश्नकर्त्ता ने स्वयं यह तो स्वीकार कर लिया है कि निष्क्रिय वायु में अग्नि की क्रिया नहीं हो सकती फिर भी अपनी पूर्व धारणा को ही मानते हुए किसी भी तरह उसमें ''ऑक्सीजन'' का प्रवेश सिद्ध करना चाहते हैं जो न वैधानिक दृष्टि से संभव है, न ही जैन दृष्टि से। निष्कर्षत: कहा जा सकता है— बल्ब में पूर्ण शून्यावकाश संभव नहीं है। इसीलिए उसमें विद्यमान ऑक्सीजन आक्सीडेशन द्वारा अग्नि उत्पन्न कर सकता हैऽ यह कहना गलत है। वेक्यूम का अर्थ निर्वात है, पदार्थ-शून्यता नहीं। यद्यपि पूर्ण शून्यावकाश करना संभव नहीं है, फिर भी यह कहना कि उसमें अवशिष्ट रूप में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विद्यमान ऑक्सीजन बल्ब के अन्दर जलाने की क्रिया के लिए उत्तरदायी है, गलत होगा। सबसे पहले तो यह स्वीकार करना होगा कि बल्ब हमेशा शून्यावकाश (निर्वात) हो ही, यह जरूरी नहीं। पहले भी बताया जा चुका है कि नाईट्रोजन, आर्गेन आदि निष्क्रिय वायु को बल्ब में इसलिए डाला जाता है कि ऑक्सीजन पूर्ण मात्रा में समाप्त हो जाए और आक्सीडेशन न हो। इस प्रकार यहाँ निर्वात करने की अपेक्षा ही नहीं है। निष्क्रिय वायु में बल्ब अच्छी तरह प्रकाशित होता है।

टंगस्टन का वाष्पीकरण उष्मा से पिघलने के कारण होता है, न कि उसके जलने के कारण। जहाँ बल्ब में निर्वात नहीं किया जाता वहाँ निष्क्रिय वायु भरी जाती है जिससे जलने की क्रिया न हो। फिर भी यह मानना कि वहाँ जैसे-तैसे ऑक्सीजन घुस जाती है, किसी को कैसे मान्य होगा ?

शास्त्रों में 'सुषिर' में वायु का प्रवेश लिखा है परन्तु जहाँ पहले से वायु हो वहाँ दूसरी वायु कैसे घुसेगी ? जितने भी गैस-फील्ड बल्ब है, उसमें बाहर से ऑक्सीजन का प्रवेश होने का कोई अवकाश ही नहीं है। भीतर वाली गैसें निष्क्रिय हैं। इसीलिए फिलामेंट का वाष्पीकरण रुकता है तथा फिलामेंट यथावत् सुरक्षित रहता है।

शून्यावकाश की जैन अवधारणा विज्ञान की अवधारणा से भिन्न है। वस्तुतः समूचे लोक में जीव और पुद्गल ठूंस-ठूंस कर भरे हुए हैं। किन्तु ये सारे व्यवहार की प्रकियाओं को बाधित या प्रभावित नहीं करते। विज्ञान के अनुसार निर्वातीकरण होने से जो स्थान हवा रहित हो जाता है, वह निर्वात कहलाता है। हवा में ऑक्सीजन की विद्यमानता स्वाभाविकतया होती है। इसलिए निर्वात स्थान में ऑक्सीजन भी नहीं रहता। यदि बहुत थोड़ी मात्रा में रह भी जाता है तो उसे अन्य उपायों से निरस्त कर दिया जाता है।

प्रश्न - 8- जोसेफ प्रिस्टली (Joseph Priestley) नाम के वैज्ञानिक ने १७७४ में ऑक्सीजन की शोध की। श्वासोच्छ्वास तथा दहन क्रिया के लिए ऑक्सीजन अनिवार्य है, ऐसी विज्ञान की पुरानी मान्यता को याद करके कितने ही विद्वान् कहते हैं कि 'बल्ब में ऑक्सीजन नहीं होने से वह कैसे प्रकाशित हो सकता है ?' किन्तु यह तर्क भी बराबर नहीं है, क्योंकि प्राचीन विज्ञान दहन-क्रिया में ऑक्सीजन को अनिवार्य मानता है, बल्ब में होने वाले प्रकाश-गरमी वगैरह में नहीं।

हाँ, आधुनिक साइन्स के सिद्धान्त के अनुसार प्रस्तुत सन्दर्भ में एक बात याद रखने जैसी है कि 'ऑक्सीजन के बिना आग नहीं लग सकती, दहन क्रिया नहीं हो सकती', ऐसा कोई नियम नहीं है। ऑक्सीजन नहीं होने पर भी क्लोरिन वायु में हाईड्रोजन जलता है।

"Info Please encyclopedia' में बताया गया है कि "Combustion need

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

not involve oxygen; e.g., hydrogen burns in chlorine to form hydrogen chloride with the liberation of heat and light..'

अर्थः- 'जलने की क्रिया में ऑक्सीजन का होना आवश्यक नहीं है। उदाहरण के तौर पर हाइड्रोजन वायु क्लोरीन में जलता है। उससे हाइड्रोजन क्लोराइड तैयार होता है। उस समय गरमी तथा प्रकाश उत्पन्न होते हैं।'

गुजरात युनिवर्सिटी अहमदाबाद से प्रकाशित विज्ञानकोश रसायण विज्ञान-भाग-५ में डॉ. (श्रीमती) एम.एस.देसाई बताते हैं कि-

"ऑक्सीजन से भी क्लोरीन में कार्बन ज्यादा तेज जलता है।"

$C+ 2F_2 \longrightarrow CF_4$

हाइड्रोजन फ्लोरिन और क्लोरिन में जलता है।

$H_2 + F_2 \longrightarrow 2HF$

$H_2 + Cl_2 \longrightarrow 2HCl$

लोहा फ्लोरिन में जलता है और उसको गर्म करने से सरलता से क्लोरिन तथ सल्फर के साथ में मिलता है।

$2Fe + 3F_2 \longrightarrow 2FeF_3$

$2Fe + 3Cl_2 \longrightarrow 2FeCl_3$

$Fe + S \longrightarrow Fes$" (भाग-5, पृष्ठ - 227)

इस तरह ऑक्सीजन की अनुपस्थिति में सोडियम भी क्लोरिन वायु में जल कर सोडियम क्लोराइड बनाता है।

$2Na + Cl_2 \longrightarrow 2Na+Cl$

इस प्रकार से हम देख सकते हैं कि ऑक्सीजन की गेरहाजरी में भी जलने की, प्रकाशित होने की, आग लगने की, गरमी उत्पन्न होने की क्रिया हो सकती ही है। इसलिए बल्ब में ऑक्सिजन न होने पर भी आर्गन आदि वायु की सहाय से तेउकाय उत्पन्न होने में साइन्स की दृष्टि से भी कोई विरोध नहीं है।'"[16]

उत्तर - प्राचीन विज्ञान और आधुनिक विज्ञान में दहन-क्रिया के विषय में कोई अन्तर नहीं है। दोनों ने मूलतः कंबश्चन यानी दहन-क्रिया में "ऑक्सीजन" की अनिवार्यता मानी है। क्लोरीन, फ्लोरीन के साथ हाइड्रोजन आदि के जलने की प्रक्रिया और उससे उत्पन्न प्रकाश व गरमी की प्रकिया एक विशिष्ट रासायनिक प्रक्रिया है, जो सामान्य "अग्नि" की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रक्रिया से भिन्न है। इसके आधार पर सामान्य 'अग्नि' में ऑक्सीजन की अनिवार्यता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। दूसरी बात है- बल्ब में तार के प्रकाशित होने की। उसमें होने वाली प्रक्रिया 'अग्नि' की सामान्य क्रिया तो है ही नहीं, साथ ही जैसे प्रश्नकर्त्ता ने स्वयं स्वीकार किया है "क्लोरीन-फ्लोरीन" वाली विशिष्ट क्रिया भी वहां नहीं है।[17] फिर यहाँ "ऑक्सीजन के बिना भी आग लगती है" का कथन कहाँ तक संगत होता है ?

अग्नि के जो भी रूप बताएं गये हैं, वे सब बिना ऑक्सीजन के संभव ही नहीं है। बल्ब के संदर्भ में तो स्पष्ट है कि वहाँ क्लोरिन, फ्लोरिन से जलने वाली क्रिया होती ही नहीं है। वैसे तो शास्त्रोक्त नरक में अचित्त अग्नि में भी उष्मा प्रकाश आदि है पर ऑक्सीजन नहीं है। वर्तमान संदर्भ में मूल प्रश्न है-क्या बल्ब में जहाँ उक्त पदार्थों की प्रक्रिया नहीं है तथा ऑक्सीजन भी नहीं है, वहाँ आग जल सकती है ? इसका स्पष्ट उत्तर है-नहीं।

प्रश्न-9- "दूसरी एक महत्त्व की बात यह है कि शून्यावकाश में भेजे जाने वाले सेटेलाइट के अन्दर मशीन के कुछ विभाग में Arking बार-बार होता ही है। छोटी-छोटी चिनगारियाँ वहाँ उत्पन्न होती रहती है। Arking का प्रमाण यदि बढ़ जाता है तो वायर जल जाता है। यह बात ISRO (Indian Space Research Organisation) के PCED विभाग में कार्यरत स्पेस-शटल के प्रोग्राम में होशियार वैज्ञानिक श्री पंकजभाई शाह और श्री किशोरभाई दोमडीया (सायन्टीस्ट, इन्जीनियर S.F.) द्वारा जानकारी प्राप्त हुई है, बहुत अच्छी बात है। ऑक्सीजन आदि से रहित शून्यावकाश में भी सेटेलाइट के अन्दर चिनगारी स्वरूप अग्निकाय जीव उत्पन्न हो जाते हैं। शून्यावकाश में भी सेटेलाइट में Arking कम करने के लिए वैज्ञानिकों को कठोर परिश्रम करना पड़ता है। वास्तव में उत्पन्न होता हुआ अग्निकाय स्वप्रायोग्य वायु किसी भी स्थान में, किसी भी प्रकार से प्राप्त कर ही लेता है।"[18]

उत्तर- यह बात तो इस बात को सिद्ध कर देती है कि Arking से उत्पन्न चिनगारियां मूलतः अग्नि है ही नहीं। वहाँ विद्युत् प्रवाह का डिस्चार्ज ही चिनगारी के रूप में विकिरण हो रहा है। शून्यावकाश में प्रकाश का विकिरण हो सकता है, इसका यह प्रत्यक्ष प्रमाण है। वहाँ वायु का अभाव है, इसलिए अग्निकाय जीव की उत्पत्ति संभव ही नहीं है। यहां पर भी पहले अग्नि को मानकर वहाँ वायु की उत्पत्ति को जबरदस्ती मनवाने की कोशिश की गई है। स्पार्क के रूप में होने वाली चिनगारियां मशीन में केरोसीन में भी आग नहीं लगा सकती, क्योंकि वहाँ ऑक्सीजन का अभाव है।

ISRO के वैज्ञानिकों का संदर्भ "स्पार्क अग्नि नहीं है, किन्तु केवल भौतिक ऊर्जा का विकिरण मात्र है," इस बात को ही पुष्ट करता है। इससे स्पेस में शून्यावकाश में 'ऑक्सीजन' का अस्तित्व सिद्ध करने का प्रयत्न किस वैज्ञानिकता का परिचायक है ? अभयदेवसूरि के कथन को भी इसके साथ जोड़ना केवल अपने पूर्वाग्रह की पुष्टि करने का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रयत्न है। इसलिए न जैन दर्शन के आधार पर और न ही विज्ञान के आधार पर यह सिद्ध होता है कि स्पेस में ऑक्सीजन है। हवा या ऑक्सीजन केवल "वातावरण" जहाँ तक है वहाँ तक विद्यमान है। वातावरण पृथ्वी की सतह से कवेल 400 किलोमीटर तक ही है। (इन बातों की चर्चा की जा चुकी है।)[19]

प्रश्न-10 - वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विचार करें तो वर्षाऋतु में आकाश में उत्पन्न होने वाली बिजली और वायर में से प्रसारित होने वाली बिजली के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है। दोनों विद्युत् का आन्तरिक स्वरूप एक जैसा है। वर्षाऋतु में बादलों के घर्षण से उत्पन्न होने वाली बिजली तो आगमानुसार सचित्त ही है, सजीव ही है। यह तो निर्विवाद सत्य है तथा कृत्रिम प्रयत्न के द्वारा टरबाइन आदि के माध्यम से उत्पन्न की जाने वाली बिजली का स्वरूप कुदरती बिजली जैसा ही है। अवकाशीय बिजली और इलेक्ट्रीसीटी इन दोनों का निर्माण, दोनों में होने वाली बिजली, टरबाइन के माध्यम से उत्पन्न होने वाली बिजली, बेटरी-सेल से उत्पन्न होने वाली बिजली अथवा अन्य किसी भी प्रक्रिया द्वारा उत्पन्न होने वाली बिजली, सभी का स्वरूप एक जैसा ही है।

Kite & Key experiment करने वाले बेन्जामीन फ्रेंकलीन नाम के वैज्ञानिक ने १७५२ के वर्ष में शोध करके ज़ाहिर किया है कि आकाश में उत्पन्न होने वाली बिजली और वायर में से प्रसार होने वाली इलेक्ट्रीसीटी-ये दोनों एक ही हैं। यह जानकारी इन्टरनेट द्वारा प्राप्त की जा सकती है।

Franklin Institute, Philadephia U.S.A. "He did make the important discovery that **lightning and electricity are the same.**' {http;/sln.fi.edu./tfi/exhibitr/Franklin.html]

फ्रेंकलीन के मतानुसार आकाश में होने वाली बिजली इलेक्ट्रीसीटी का ही एक प्रकार का उत्सर्जन है। यह रही इन्टरनेट द्वारा मिलती जानकारी—

Info please Encyclopeida-

... Which proved that lightning is an electrical discharge, (http:/www.info.please.com/c16/people/A0858229.html) 'Science Encyclopeida पुस्तक में Electricity Chapter (पृष्ठ-228) में बताया है कि "Lightning is a form of Electricity" अर्थात् **आकाशीय बिजली यह इलेक्ट्रीसीटी का ही एक प्रकार है।**

इस प्रकार विज्ञान की दृष्टि से तो आकाश में उत्पन्न होने वाली बिजली और वायर में से प्रसार होने वाली इलेक्ट्रीसीटी एक ही है-इतना निश्चित होता है। स्व. डॉ. दौलतसिंहजी कोठारी ने भी स्पष्ट शब्दों में बताया है कि 'विज्ञान सचित्त-अचित्त की परिभाषा पर विचार नहीं करता। इसलिए वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विद्युत को अचित्त कहने का कोई अधिकार नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि आकाशीय विद्युत और प्रयोगशाला की विद्युत- ये दोनों एक हैं। यदि शास्त्रीय दृष्टि से आकाश की बिजली सजीव है तो प्रयोगशाला इत्यादि की बिजली भी सजीव है।' (सम्यग्दर्शन-मासिक, ता. ५-७-२००२ में से साभार उद्धृत।)[20]

उत्तर- मूलत: बिजली या इलेक्ट्रीसीटी अपने आपमें क्या है-इसका पूरा विवेचन हम कर चुके हैं तथा यह भी देख चुके हैं कि आकाशीय बिजली (Lightning) की प्रक्रिया में किस प्रकार इलेक्ट्रीसीटी का 'discharge' काम करता है और हमारे शरीर में भी बिजली (इलेक्ट्रीसीटी) किस प्रकार कार्य करती है। हमें इलेक्ट्रीसीटी, शरीर में काम करने वाली बिजली और स्थित-विद्युत् (Static Electricity) आदि सभी प्रकार की बिजली की प्रक्रियाओं में रहे अन्तर को समझना होगा। हमें फ्रेंकलीन, डॉ. डी.एस. कोठारी, एन्सायक्लोपीडिया आदि द्वारा किए गए कथन की अपेक्षा को समझना होगा कि वे किस दृष्टि से दोनों को एक मानते हैं।

हमारे विवेचन में हम बता चुके हैं कि कोई भी पदार्थ चाहे सजीव हो या निर्जीव, एकेन्द्रिय जीव का शरीर हो या पंचेन्द्रिय जीव का शरीर-सब कुछ विद्युन्मय है-इलेक्ट्रोन, प्रोटन आदि जो स्वयं विद्युत् के रूप हैं, सभी पदार्थों के मलू घटक हैं। तार में प्रवाहित विद्युत् धारा उन्हीं इलेक्ट्रोनों का ही धातु (जो सुचालक है) के माध्यम से स्थानान्तरण है। स्थित विद्युत् के रूप में भी यही विद्युत् अचल अवस्था में रहती है। हमारी प्रत्येक क्रिया भी विद्युत् के परिणमन के द्वारा ही चल रही है। ऐसी स्थिति में आकाशीय बिजली (Lightning) जो सचित्त तेउकाय है, की तुलना केवल तार वाली विद्युत् से करना कहाँ तक संगत होगा? फिर तो सब कुछ सचित्त तेउकाय मानना होगा। पर सब कुछ तेउकाय नहीं हैं क्योंकि आकाशीय विद्युत की प्रक्रिया में जलने की प्रक्रिया स्पष्ट है पर सर्वत्र वह नहीं है। फिर तार वाली इलेक्ट्रीसीटी भी जब तक तार में है तब तक जलने की क्रिया से मुक्त है, इसलिए सचित्त तेउकाय नहीं मानी जा सकती। आकाशीय बिजली और अन्य बिजली में समानता भी है, भिन्नता भी। डॉ. दौलतसिंह कोठारी के उद्धरण से केवल यही फलित होता है कि विद्युत् का अपने आप में स्वरूप एक है। उसके विभिन्न रूपों को डॉ. कोठारी कैसे नकारेंगे। यदि सारी विद्युत् एक ही है, सचित्त तेउकाय ही है, तो फिर सभी क्रियाओं में उसका प्रयोग होने से सारा वर्ज्य हो जायेगा। एक और अनेक की अपेक्षाओं को न समझना जैन दर्शन को कैसे मंजूर हो सकता है? सिद्ध आत्मा और निगोद की आत्मा आत्म-स्वरूप की अपेक्षा से एक है। स्त्री और पुरुष जीवत्व की अपेक्षा से एक है। जीव के शरीर रूप पुद्गल और अचित्त पुद्गल पुद्गलत्व की अपेक्षा से एक है। ऐसे एक मान लेने से उनकी एकान्त एकता मान लेना स्पष्टत: असंगत है। हमें सोचना होगा कि एक होते हुए भी विद्युत् के विभिन्न परिणमनों में कहाँ सचित्त तेउकाय यानी जलने की क्रिया होती है और कहाँ नहीं होती?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रश्न- 11 - "श्वेताम्बर, दिगम्बर, स्थानकवासी, तेरापंथी-चारों पंथ के सभी जैन लोग आकाशीय बिजली को निर्विवाद रूप से तेउकाय जीव स्वरूप ही मानते हैं। महाशक्तिशाली आकाशीय बिजली जब नीचे गिरती है तब उनसे होने वाले संभावित नुकसान को रोकने के लिए बड़ी-बड़ी फेक्टरियां, ऊँची इमारतें, महाकाय मंदिरों, विराट होस्पिटल वगैरह के ऊपर के छत के भाग में अर्थिंग करने के लिए त्रिशूल आदि आकार में तांबे के वायर वगैरह की विशिष्ट रचना की जाती है और उस वायर को जमीन में बहुत नीचे तक पहुँचाया जाता है। नीचे गिरती बिजली को अपनी ओर खींच कर यह वाहक तार उसको जमीन में नीचे पहुँचाता हैं। उससे फेक्टरी वगैरह संभवित नुकसान से बच जाते हैं। इस सन्दर्भ में तो सभी धर्मात्मा-महात्मा और वैज्ञानिक सम्मत हैं। तार में प्रवेश करके जमीन में जा रही आकाशीय बिजली को उस अवस्था में क्या निर्जीव मानेंगे? यह बात शक्य ही नहीं, क्योंकि जैसे आकाशीय बिजली अपने ऊपर गिरने से आदमी जल जाता है, कभी-कभी मर भी जाता है वैसे ही जब आकाशीय बिजली तांबे के तार में से प्रसार हो रही हो तब उस तार को पकड़ने वाला आदमी भी जल जाता है, कभी-कभी मर भी जाता है। इसलिए मानना ही पड़ेगा कि जैसे आकाश में उत्पन्न होने वाली बिजली सजीव है उसी तरह तार में से प्रसार हो रही बिजली भी उस अवस्था में सजीव ही है।

यह प्रक्रिया बिलकुल इलेक्ट्रीसीटी जैसी ही है। फर्क सिर्फ इतना ही है कि आकाशीय बिजली पहले प्रकाशरूप होती है, पश्चात् तार में प्रवेश कर यह अदृश्य इलेक्ट्रीसीटी का स्वरूप धारण करती है जबकि टरबाइन वगैरह के माध्यम से उत्पन्न होने वाली बिजली पहले अदृश्य इलेक्ट्रीसीटी के स्वरूप में उत्पन्न होकर बाद में बल्ब के फिलामेंट में प्रकाश स्वरूप में दिखाई देती है। इस तरह टरबाइन वगैरह के माध्यम से उत्पन्न होने वाली कृत्रिम बिजली-इलेक्ट्रीसीटी और आकाशीय बिजली दोनों का स्वरूप एक ही है-ऐसा सिद्ध होता है। आकाशीय बिजली तो सजीव है ही। इसलिए उसके समान कृत्रिम बिजली-इलेक्ट्रीसीटी भी तेउकाय जीव स्वरूप ही है, यह सिद्ध होता है।

आकाशीय बिजली के नुकशान से बचने के लिए जैसे Earthing किया जाता है उसी प्रकार का Earthing गगनचुंबी इमारत-फेक्टरी वगैरह में कृत्रिम बिजली के नुकसान से बचने के लिए किया जाता है। आकाशीय बिजली जब अर्थिंग तार में से पसार हो रही हो तब यदि उस तार के साथ बल्ब को योग्य स्वरूप से जोड़ा जाए तो वह बल्ब भी प्रकाशित होता ही है। यह बाबत विज्ञान ने प्रयोग द्वारा सिद्ध की है। इस तरह आकाशीय बिजली और कृत्रिम बिजली के बीच अनेक प्रकारों से समानता ही दिखाई देती है। इसलिए आकाशीय बिजली की भाँति वायर में से पसार होती बिजली-इलेक्ट्रीसीटी भी सजीव ही है।"[21]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्तर-आकाशीय बिजली यानी आकाश में चमकने वाली विद्युत् यानी 'विज्जू', कड़क कर गिरने वाली विद्युत् यानी अशनि या वज्रपात तथा उल्कापात (जो घर्षण से चमकते हुए पिण्ड पृथ्वी पर गिरते दिखाई देते हैं, जिन्हें Meteor कहा जाता है)-ये सभी केवल जलने की स्थिति में सचित्त तेउकाय हैं। न इससे पूर्व, न पश्चात्। बिजली का पृथ्वी में समा जाना यानी विद्युत्-आवेश का मुक्त रूप आ जाता है। "जलने" की क्रिया न करते समय विद्युत-ऊर्जा को तेउकाय नहीं माना जा सकता। यदि उसे तेउकाय मान लेगें, तो फिर सभी इलेक्ट्रीक चार्ज को तेउकाय मानना पड़ेगा, किन्तु ऐसा नहीं है।

इलेक्ट्रीसीटी अपने आप में केवल पौद्गलिक ऊर्जा है। जब वह तार में से गुजरती है, तब भी वह केवल पौद्गलिक ऊर्जा है, भले वह पावर-हाऊस से उत्पन्न हो या आकाशीय विद्युत् से "डीस्चार्ज" से उत्पन्न इलेक्ट्रीक चार्ज हो। आकाशीय बिजली (विज्जू) को सचित्त तेउकाय केवल आकाश में विद्यमान ऑक्सीजन के सहयोग से ज्वलनशील पदार्थों को जलाते समय ही मानना होगा। जब वही चार्ज गगनचुंबी इमारत के ऊपर लगे हुए तार से हो जाता है, तब उसे सचित्त तेउकाय नहीं माना जा सकता, क्योंकि तार के भीतर गुजरते समय उसका तेउकाय परिणमन नहीं होता। न वहाँ जलन या दहन क्रिया हो रही है और न ही वहाँ प्रकाश या चमक होती है। यदि वह तेउकाय होती, तो फिर स्वयं तार भी जल जाता। इतना भारी होने पर भी तार इसीलिए नहीं जलता कि वहाँ दहन-क्रिया का अभाव है।

पावर हाऊस से उत्पन्न बिजली जब तक तार में है, वह भी पौद्गलिक (निर्जीव) है। तार से बाहर जब खुली हवा में वह ज्वलनशील पदार्थों के संयोग में उचित तापमान पर आती है, तभी वह अग्नि पैदा कर सकती है। इस प्रकार तार में प्रवाहित बिजली और खुले आकाश में चमकने वाली बिजली का भेदाभेद बहुत स्पष्ट हो जाता है।

जिस तार से बिजली गुजर रही है, उस तार को पकड़ने वाला व्यक्ति किस अवस्था में है, पर वह जलेगा या नहीं, इसका आधार है— यदि व्यक्ति Insulator पर खड़ा है, तो तार वाली बिजली का करंट उसमें प्रेवश नहीं करेगा। यदि वह Earthing कर रहा है तो तुरंत करंट उसमें आ जाएगा।

जैन दर्शन के अनेकांत को समझने वाले पर्याय-भेद और परिणमन-भेद को नहीं समझते तथा केवल द्रव्य-अभेद के आधार पर सार्वत्रिक और समस्त अभेद मान ले तो यह कहाँ तक संगत है ?

सन्दर्भ ग्रन्थ :

1. मुनि यशोविजयजी, विद्यत् सजीव या निर्जीव (द्वितीय आवृत्ति), पृष्ठ 15
2. वही, पृष्ठ 17, 18, 19

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

3. बल्ब में टंगस्टन के तार की पसंदगी क्यों की जाती है, वह निम्न उद्धरण से स्पष्ट हो रहा है (इण्टरनेट से प्राप्त)-

3. "How does a regular lamp (light bulb) work?

A normal incandescent lamp contains a double-wound tungsten filament inside a gas-filled glass bulb. By "double-wound", I mean that a very fine wire is first wound into a long, thin spiral and then this spiral is again wound into a wider spiral. While the final filament looks about 1 or 2 centimeters long, it actually contains about 1 meter of fine tungsten wire. When the bulb is on, an electric current flows through the filament from one end to the other. The electrons making up this current carry energy, both in their motion and in the forces that they exert on one another. As they flow through the fine tungsten wire, these electrons collide with the tungsten atoms and transfer some of their energy to those tungsten atoms. The tungsten atoms and the filament become extremely hot, typically about 2500° Celsius. Tungsten wire is used because it tolerates these enormous temperatures without melting and because it resists sublimation temperatures longer than any other material. Sublimation is when atoms "evaporate" from the surface of a solid. The gas inside the bulb is there to slow sublimation and extend the life of the filament.

Once the filament is hot, it tends to transfer heat to its colder surroundings. While much of its heat leaves the filament via convection and conduction in the gas and glass bulb, a significant fraction of this heat leaves the filament via thermal radiation. For any object that is hotter than about 500° Celsius, some of this thermal radiation is visible light and for an object that is about 2500° Celsius, about 10% is visible light. The light that you see from the bulb is the visible portion of its thermal radiation. However, most of the filament's thermal radiation is invisible infrared light. While you can feel this infrared light warming your hand, you can't see it. Because only about 80% of the electric power delivered to the bulb becomes thermal radiation and only about 12% of that thermal radiation is visible, an incandescent light bulb is only about 10% energy efficient. Other types of lamps, including fluorescent and gas discharge lamps, are much more energy efficient."

4. मुनि यशोविजयजी, पूर्व उद्धृत ग्रन्थ, पृ. 19-20

5. प्रथम भाग का टिप्पण 44 (a), (b), (c) द्रष्टव्य है।

6. मुनि यशोविजयजी, पूर्व उद्धृत ग्रन्थ, पृष्ठ 102

7. (a) Satish K. Gupta, op. cit., p.736 -

"Hertz's experimental arrangement consists of two metal plates P^1 and P^2 held parallel to each other and connected to two metal spheres, S^1 and S^2 through thick metallic rods R^1 and R^2. The distance between the metal

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

plates was about 60 cm and the separation between the two spheres was about 2-3 cm. The spheres can be slided over the rods, so as to adjust the gap between them. An induction coil is used to apply a high voltage of several thousand volts across the two metal plates. When the discharge of metal plates takes place in the form of a spark in the gap between spheres S^1 and S^2, electromagnetic waves are radiated. The waves so radiated can be detected with the help of a detector made of a circular coil and two metal spheres S_1' and S_1'.

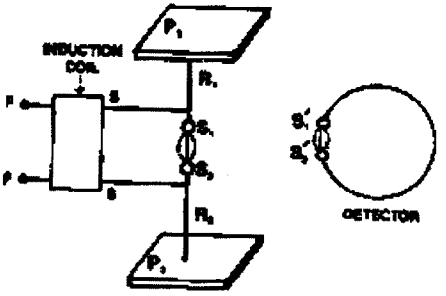

Explanation. The high potential difference across the metal plates ionizes the air between the spheres S^1 and S^2 and allows a path for discharge of plates. During the discharge of plats, a spark is produced between the spheres due to the high potential difference.

(=5 x 107 Hz.). It results in oscillations of charges on the plates at such a high frequency. Therefore, a highly oscillating electric fied is produced across the vertical gap between the two spheres. It, in turn, produces a highly oscillating magnetic field of same frequency in horizontal plane and perpendicular to the gap between the spheres. The oscillating electric and magnetic fields constitute electromagnetic waves of the same frequency (5 x 107 Hz.) and these waves are ratidated from the spark gap."

(b) Text-book of Physics (Std.XIII), part II, Pages 95-97 –

Here Q^1 and Q^2 are two metallic spheres. Joined to them are two metallic rods M and N with some space between called spark gap S. The rods are connected to the two terminals of an induction coil to provide high intermittent voltage. The spheres Q1 and Q2 act as capacitors and the rods act as inductors. This arrangement therefore, acts as an oscillagling circuit in which alternately Q^1 and Q^2 acquire positive and negative charges which reverse in their polarity each time a spark passes across the gap S. The process repeats itself rapidly with a definite period.

The electromagnetic waves generated in the process are detected by another spark gap arrangement R placed at some distance from S. The spheres Q^1 and Q^2 which can be adjusted along the rods M and N are slided so that

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

the circuit of gap S is in resonance with R. The electromagnetic waves generated at S are then detected as sparks occurring across the gap R.

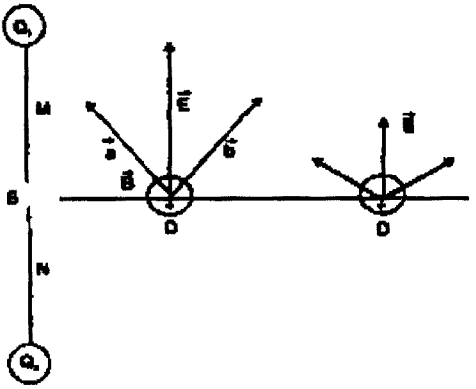

When a spark passes across S, stream of electrons pass across the spark gap from the negatively charged sphere to the positively charged sphere, reversing their polarities. In this situation the direction of the electric field at C and D will be reversed. Thus, at each passage of spark the polarity of charges on Q^1 and Q^2 reverses and the electric field direction in the surrounding region also reverses; i.e. the electric field oscillates.

Further, the stream of electrons crossing the spark gap constitutes a current. This alternating current in the spark gap generates an alternating magnetic filed in the neighbourhood. Application of Ampere's right hand rule readily shows that the resulting magnetic field is perpendicular to the electric field.

According to Maxwell S electromagnetic field theory, these electric and magnetic fields in the neighbourhood do not appear instantaneously. The influence of the oscillations of S spread to the neighbouring region with velocity of light. Thus, at various points in the region around S, the oscillations have phases which depend upon their distance from S.

(c) देखें, प्रथम भाग, टिप्पण 54-55

8. देखें, प्रथम भाग, टिप्पण 61

9. http:www,edntt,cin/articles reports/edmprocesses.html. by Dean Brink, Pesident and Technical Director, EDM Technology Transfer. EDM: Principles of operation, Part I, Different types of machining processes that use EDM. Pages 1, 2, 3

10. G.E.C. Type K Oil Circuit Breakers, by The General Electric Company of India Ltd.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Circuit Breaker

Type K range of oil circuit breakers have been designed for use on systems upto 660 volts and for normal current ratings upto 1200 A.

The Circuit breakers are of fabricated sheet steel construction and specially designed for installations in situation where reliability and robust construction are essential.

All circuit breakers are subjected to a series of routine mechanical and electrical tests to ensure proper and reliable working in service.

The circuit breaker has double break contacts, the contacts being of spring loaded multifinger type engaging with a moving crossbar and giving high-pressure line contact.

The trip free operating mechanism is self contained and all working parts are adequately electroplated. Gaskets are provided to prevent oil throw and to seal off dirt and dust.

Mechanical ON/OFF indication of the breaker is provided and connections are available for electrical indication.

All circuit breakers of the same rating are interchangeable.

Isolating contacts

The main isolating finger contacts are of the self aligning multiple plug-and-socket type with silver to silver contact faces, and designed to ensure high-pressure multi-line contacts; they are mounted on robust insulation bases. Secondary isolating plugs and sockets which are spring mounted to ensure self-alignment are provided for auxiliary and control circuit connections.

Interlocks

A system of mechanical interlocks ensures that it is not possible to make or break the load on the isolating contacts or remove the breaker tank and top plate while the circuit breaker is ON.

Trip Coils

Any combination of over current, earth fault, under voltage and shunt trip coils, upto a maximum of four, can be incorporated.

Over current coils are adjustable from 75% to 200% of the full load current and are fitted with oil dashpot tie lages having an inverse tie characteristic. The settings of the overload trip coils can be adjusted from the front of the circuit breaker. The dashpots are fitted with a padlocking device to prevent unauthorised alteration of the settings.

Earth fault trip coils are available with tappings to suit individual requirements.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Current Transformers

The current transformers are of air cooled ring type and comply with the appropriate British & Indian Standard Specifications and are fitted on each phase within the circuit breaker.

11. मुनि यशोविजयजी, पूर्व उद्धृत ग्रन्थ, पृष्ठ 24
12. वही, पृष्ठ 25
13. वही, पृष्ठ 26-27 -

"A light bulb also has most of the air sucked out of it. If it did not, wire would actually burn up instantly. When a light bulb 'burns out', it is because the filament slowly vaporizes." [url:http.//www.madsci.org/posts/archives/May 97/ 864507907.ph.r.h. tme.]"

14. वही, पृष्ठ 27

"Inert gases such as nitrogen and argon were later added to the bulbs to reduce tungsten evaopouration, or sublimation.:

[url.http//www.geocities.com/bio-electrochemistry/Coolidge.html.]"

15. वही, पृष्ठ 27-30
16. वही, पृष्ठ 31, 32
17. वही, पृष्ठ 26 (पूर्व प्रश्न 7 में उद्धृत)
18. वही, पृष्ठ 32-33
19. देखें, प्रथम भाग का सातवां प्रभाग (पृष्ठ 42)।
20. मुनि यशोविजयजी, पूर्व उद्धृत ग्रन्थ, पृष्ठ 33-35

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ENGLISH SECTION

Editor : Dr Jagat Ram Bhattacharyya

1.	Ācārāṅga-Bhāṣyam	Ācārya Mahāprajña
2.	Nayas—Ways of Approach and Observation	Nathmal Tatia
3.	Essai Sur Guṇāḍhya Et La Bṛhatkathā	Professor Felix Lacote

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Ācārāṅga-Bhāṣyam

Ācārya Mahāprajña

CHAPTER - II
PONDERING OVER THE NATURE OF THE WORLD

[SECTION - 3]

2.49 se asaiṃ uccāgoe, asaiṃ nīyāgoe. no hīṇe, ṇo airitte, ṇo pīhae.

Frequently a soul is born with high, frequently with low status. So it is neither high nor low (intrinsically). One should not therefore covet status.

Bhāṣyam Sūtra 49

The most visible goods of possession are accumulation of money and boarding of property. But minutely viewed, the desire for honour and respect too is nothing but a kind of possession. This Sūtra is concerned with contemplation on freedom from such possession. The worldly soul transmigrates from higher to lower pedigrees and vice-versa, time and again; therefore, truly speaking, he is neither low nor high. In other words, the distinction between high and low is only arbitrary. As such, the hankering for a high pedigree is futile.[1]

High pedigree - it refers to one whose pedigree is worthy of honour and respect. The opposite of this is low pedigree.

This Sūtra should be explained from the standpoint of substance. From the standpoint of substance or the ultimate standpoint the soul is neither low nor high. The high or low is understandable only from the standpoint of modes.

2.50 iti saṃkhāya ke goyāvādi? ke māṇāvādī ? kiṃsi vā ege gijjhe?

Knowing this truth about status, who would speak of his status,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

who would be proud of it and who would remain attached to a particular thing or object?

Bhāṣyam Sūtra 50

Knowing that he himself as well as others have passed through high and low pedigrees, why should one uphold the doctrine of pedigree and position of pride? What should one covet for? The doctrine of pedigree relates to the caste, family, power, beauty, penance, learning, acquisition and fortune. The doctrine of pride originates from the imaginary view of oneâs personal qualifications and merits. One has already experienced all this in the past. Why should, therefore, one feel elated on getting to a high position or feel depressed when falled down to a low status?

2.51 tamhā pamḍie ṇo harise ṇo kujjhe.

And therefore the intelligent person should neither he happy nor angry.

Bhāṣyam Sūtra 51

Therefore, the wise man should be equanimous. He should not feel elated when accorded respect and honour due to his high pedigree. Nor should be depressed when subjected to insult due to his low pedigree.

2.52 bhūehiṃ jāṇa paḍileha sātaṃ.

See and ponder over the karma and its result in living beings, reflect on the elimination of karma.

Bhāṣyam Sūtra 52

The experience of low pedigree is suffering. While pondering over the cause of suffering, one should first of all know about the soul and about the soul and then about how the karma is bound and produces its result.

Look at the wearing off[1] of karma and the process of such wearing.

2.53 samite eyāṇupassi.

A person of right world-view reflects on karma and its results.

Bhāṣyam Sūtra 53

The person who has comprehended the truth through investigation into the nature of the desirable and the undesirable is a person of right world-view, Such person can see the result of karma.

2.54 jaṃ jahā — aṃdhattaṃ bahirattaṃ mūyattaṃ kāṇattaṃ kuṃtattaṃ khujjattaṃ vaḍabhattaṃ sāmattaṃ sabalattaṃ.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Such as blindness, deafness and dumbness, one-eyedness, lameness, dwarfness, hunch-backedness, leprosy and white leprosy.

Bhāṣyam Sūtra 54

Blindness, etc. are the illustration of the result of karma.

There are two meanings of the word *khujja* : Hunchback ???[2] and dwarf.[3] The meaning of the word *vaḍabha* is also hunch-back.[4] In the context of the configuration of the body, this is coorroborated.[5] The meaning of *samatta* is leprosy[6] and *sabalatta* is white leprosy.[7]

2.55 sahapamāeṇam aṇegarūvāo joṇīo saṃdahāti, virūcvarūve phāse paḍisaṃvedei.

On account of his non-vigilance he undergoes various births and miseries.

The investigator of the results of karma reflects on the truth of rebirth in different species on account of ones own non-vigilance and suffers in multifarious ways.

Bhāṣyam Sūtra 55

One who investigates the fruition of karma perceives the truth that is expressed in the present, Sūtra.

2.56 se abujjhamāṇe hatovahate jāi-maraṇaṃ anupariyaṭṭamāṇe.

Ignorant about karma and its results, injured and insulted, he passes through cycles of birth and death.

Bhāṣyam Sūtra 56

Not knowing about pride arising from possessions, and violence due to such pride, as well as the karmic results born of such pride and violence, a person exposes himself to insults and injuries on account of failures and ailments in life. Such person accumulates karma and subjects himself to cycle of birth and death.

2.57 jīvīyam puḍho piyaṃ ihamegesiṃ māṇavāṇaṃ khettavatthu namāyamāṇāṇaṃ.

The some people, a highly prosperous life is dear, owing to their clinging to land and property.

Bhāṣyam Sūtra 57

The desires are manifold. Some people desire only for fortune and power.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

An ostentatious and prosperous life alone is dear to them. They have strong clinging to land and property.

2.58 āratam virattam maṇikuṃḍalam saha hiraṇṇeṇa, ithiyāo parigijjha tattheva rattā.

They gather clothes of different colours, precious gems, ear-rings, precious metals like gold and silver and women, and cling to them.

Bhāṣyam Sūtra 58

Such people have lust for clothes dyed with *kusumbha* flowers[8] and various other colours, and also precious stones, ear-rings, precious metals like gold and silver, and women.

People accumulate clothes for protection of the body, precious gems and ornaments for adorning the body; they amass precious metals and wealth for maintenance of life, and women for enlarging family; when utility is replaced by clinging, the knot of mine-ness becomes invincible. The Sūtra has disclosed this truth.

2.59. ṇa ettha tavo vā, damo, vā, ṇiyamo vā dissati.

Neither penance, nor self-control, nor self-discipline is found in such persons.

Bhāṣyam Sūtra 59

It is not possible to find penance, restraint, or discipline in persons who have possessions or lust for possessions. On account of their possessions, they always suffer from anger and anguish. The agonised mind can hardly think of penance and restraint.

Penance means conquering taste and successfully practicing the postures, etc.

Self-control means conquering the senses and restraining the passions.

Self-discipline means abstaining from the objects of enjoyment (consumable and usable) for a limited period.[9]

2.60 saṃpuṇṇaṃ bāle jīviukāme lālappamāṇe mūḍhe vippariyāsuvei.

The ignorant person who desires to live an unhindered prosperous life, and hankers after pleasures meets the reverse (i.e. suffering) in life under the sway of delusion.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Bhāṣyam Sūtra 60

An ignorant person with the ambition of living a trouble-free and prosperous life hankers after pleasures, time and again. But on account of his excessive lust for possessions, he is thwarted in his ambition. He desires pleasures but gets suffering.[10]

2.61 iṇameva ṇāvakaṃkhaṃti, je jaṇā dhuvacāriṇo.
jātī-maraṇaṃ pariṇṇāya, care saṃkamaṇe daḍhe.

People exerting for the state of eternal liberation do not like such reversal. Therefore, comprehending the cycle of birth and death, one should tread on the firm causeway of non-possession.

Bhāṣyam Sūtra 61

The aspirants who realize the evil consequences of clinging to possessions are inclined toward liberation, that is they are heading towards the eternal state of liberation. They do not hanker after the life that is fleeting though prosperous, and is full of perversions and prejudices. The singular result of the possessive clinging is birth and death and transmigration through many species of life and experience of the status of blindness and the like. Comprehending this, a person free from delusion should travel on a steady path, that is, the cuaseway leading to emancipation. The implication is that he should tread the path of non-possession.

2.62 ṇatthi kālassa ṇāgamo

There is no moment inaccessible to death.

Bhāṣyam Sūtra 62

The reason for abandoning the fleeting and moving towards the eternal is indicated here. A person usually hankers after a prosperous life. But how long does such prosperity continue? There is no moment inaccessible to death. There is no moment when death cannot visit a being. There is every chance of death at any moment, in day or night, childhood, youth or old age. Advance towards the eternal, therefore, is the desideratum. The person thus advancing is always vigilant and vice-versa.

2.63 savve pāṇā piyāuyā suhasāyā dukkhapaḍikūlā appiyavahā piyajīviṇo jīviukāmā.

2.64 savvesiṃ jīviyaṃ piyaṃ.

2.65 taṃ parigijjha dupayaṃ cauppayaṃ abhijuṃjiyāṇaṃ saṃsiṃciyāṇaṃ tivieṇaṃ jā vi se tattha mattā bhavai — appā vā bahugā vā.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(63-65) All beings love long life, relish happiness, hate suffering, dislike torture, love to live, desire for life. To everyone life is dear. However, the person addicted to possession owns the biped, the quadruped and engages them in service by force to multiply his wealth. By triple effort, he amasses wealth in small or big quantity.

Bhāṣyam Sūtra 63-65

Violence is committed for possessions sake. Humans and animals are also subjugated. in the three Sutras, the accumulation of possession is shown to be done by means of violence. Life is dear to everybody, pleasurable feelings are favourable to all. Suffering is repugnant, torture is distasteful, a life rich in enjoyments is dear to all. They desire to live free from premature and untimely death.[11]

Everybody wants to live an independent life. Nobody likes domination by others. But, nevertheless, a person, attached to possessions, takes hold of the life of the biped and quadruped and accumulate fortune, engaging them forcibly in his service.

Such person succeeds in acquiring wealth and property, small large, in triple way: by the effort of himself, of others or of both, or by the exertion of mind, speech and body. As a result he becomes a millionaire or even multimillionaire.

2.66. se tattha gaḍhie ciṭṭhai bhoyaṇāe.

2.67. tao se egayā viparisiṭṭhaṃ saṃbhūyaṃ mahovagaraṇaṃ bhavai.

2.68. taṃ pi se egayā dāyāyā vibhayaṃti, adattahāro vā se avaharati, rāyāṇo vā se vilumpaṃti, ṇassati vā se, viṇassati vā se, agāradhāhiṇa vā se ḍajjāi.

(66-68) He gets ensnared in fortune for its enjoyment. Then at one time, his manifold savings grow into a large fortune; at another time his fortune is divided by relatives among themselves, or stolen by the thief, or confiscated by the king, or is lost, or destroyed or burnt in housefire.

Bhāṣyam Sūtra 66-68

Such person is overwhelmed with lust for the accumulated wealth. He needs wealth for enjoyment, and so develops delusive attachment to it.

Now he strives for preserving his wealth and sometimes his savings become huge and grow to a big quantity. He lives in luxury, heaps of wealth.

The accumulated wealth generates ambition in many people. This is

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

an objective truth. Such wealth has three phases: acquisition, enjoyment and destruction. Here the third phase is shown as an inevitable consequence. Sometimes the relatives divide his big savings among themselves; sometimes it is stolen by the thieves, or confiscated by the king (or the state), or lost, or destroyed,[12] or reduced to ashes when the house is on fire.

2.69 iti se parassa aṭṭhāe kūrāiṃ kammāiṃ bāle pakuvvamāṇe teṇa dukkheṇa mūḍhe vippariyāsuvei.

In this way, the ignorant person engaged in cruel acts for the sake of others is bewildered by his suffering and has a setback (i.e. loss of fortune).

Bhāṣyaṃ Sūtra 69

The ignorant person commits cruel deeds for earning money mainly for the members of his family. On account of the cruel and heinous deeds, he incurs suffering and is deluded[13] by it. Consequently, he falls into misfortune. In other words, while hankering after pleasures, he meets suffering.[14]

2.70. muṇiṇā hu eyaṃ paveiyaṃ.

This has been proclaimed by the Jina.

Bhāṣyaṃ Sūtra 70

This truth has been revealed by Lord Mahāvīra, the omniscient ascetic.

2.71 aṇohaṃtarā ete, no ya ohaṃ tarittae, atīraṃgamā ete, no ya tīraṃ gamittae. apāraṃgamā ete, no ya pāraṃ gamittae..

They do not cross the flood of suffering, nor are they able to. They do not cross on to other shore, nor are they able to. They do not go to the opposite bank nor are they able to.

Bhāṣyaṃ Sūtra 71

The cruel people attached to their possessions are unfit to cross the stream of suffering, that is, they are incapable of overcoming the flood of suffering in the ocean of Saṃsāra. They cannot cross to over the other side of that tide to reach the other bank. Such people cannot reach the end of the ocean of suffering.

There is internal relationship between possession and cruelty. With the increase of possessions there is decrease of the tenderness of heart and increase in cruelty. The history of mankind stands witness to this. Tenderness of heart is the way to freedom from suffering. Cruelty creates

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

problem in social relations and hinders one from crossing the ocean of suffering.

2.72 āyāṇijjaṃ ca āyā, tammi ṭṭāṇe ṇa ciṭṭhai.
vitahaṃ pappa kheyaṇṇe, tammi ṭhāṇammi ciṭṭhai.

Accepting the acceptable (non-possessiveness) the ignorant person does not stick to it. Having access to the untrue (i.e. possessiveness), he sticks to it.

Bhāṣyaṃ Sūtra 72

Here acceptable stands for non-possessiveness. A person ignorant of himself accepts non-possessiveness, but does not stick to it. On his access to the untrue (i.e. possessiveness), he remains addicted to it.

A person ignorant of himself is not capable of avoiding his clinging to possessions of worldly objects. Sometimes, somehow he even accepts the acceptable, but in the absence of the power of discrimination between soul and matter, he does not adhere to it which is possible only on the acquisition of the power of discrimination.

2.73 uddeso pāsaggassa ṇatthi.

There is no designation for the seer.

Bhāṣyaṃ Sūtra 73

The person who sees the objectives truth is a seer. There is no designation for him. Designation means the description, for example, the naming of a person as happy, miserable, angry, proud, deceitful, greedy, rich, poor etc.

The seer transcends such designations and always experiences his self-nature and avoids conceptual vagaries.[15]

2.74 bāle puṇa ṇihe kāmasamaṇuṇṇe asamiyadukkhe dukkhī dukhāṇameva āvaṭṭaṃ aṇupariyaṭṭai — tti bemi.

An ignorant person is but full of affection. He desire for pleasurable things. He suffering is not mitigated. Being miserable, he rotates in the whirl of suffering — Thus do I say.

Bhāṣyaṃ Sūtra 74

A person who is ignorant and not a seer is filled with affection and desires for sensual objects. He is not able to calm down his suffering arising from sensual objects and possessions. With unmitigated sufering, he lives in miserable condition. Because of his physical and mental suffering, he revolves in the whirl of miseries.

The ignorant person is disignated as happy, miserable, angry etc.[16]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Reference :

1. Both the words śātaṃ and sātaṃ mean wearing off. Apte : śataḥ — destroyed, śaṭaḥ — cut down.
2. Ācārāṅga Cūrṇi, p. 65.
3. Ācarāṅga Vṛtti, Patra 108.
4. Abhidānacinatāmani, 3.130;6.65.
5. Sthānāṅga, Vṛtti, patra 339
6. Ācārāṅga Cūrṇi, p. 65 : sāmo—kuṭṭhī.
7. (a) Ācārāṅga Cūrṇi, p. 65 : śabalatvaṃ — siti.

   (b) Ācārāṅga Vṛtti, Patra 108 : śabalatvaṃ śivatralakṣaṇam.
8. Apte : raktakaṃ — A red garment.
9. Ratnakaraṇḍaśrāvakācāra, 89

   adya divā rajanī vā, pakṣo māsastatharturayanaṃ vā,

   itikālaparicchittyā, pratyākhyānaṃ bhavenniyamaḥ.
10. See Āyāro, 2.151.
11. The truth the Happines is loved and sufferings loathed has been discussed here in the context of acquisitiveness. One who amasses wealth endeavours to get rid of his miseries and acquire happiness. While doing so, he does not care if he ruins the happiness of others. He forgets the fact that just as he like happiness and loathes sufferings, others also do so. In the field of commerce and trade, dishonesty and exploitation practised in society are nothing but the results of losing sight of the above fact. Bhagvān Mahāvīra has repeatedly stressed this point and admonished that conduct should be based on the precept of self-equality.
12. Ācārāṅga Cūrṇi, p. 65. : ṇassati cauppayādi sayameva, ... viṇassati jaṃ viṇā paribhogeṇa kāleṇa vinassai .... ahavā ṇāvāe bhiṇṇāe savvaṃ viṇassai.
13. Ācarāṅga Vṛtti, Patra 112.

    rāgadveṣābhibhūtavāt, kāryākāryaparāṅmukhaḥ, eṣa mūḍha iti jñeyo, viparītavidhāyakaḥ.
14. Just as the fruit of the mango is called mango, the seed of the mango is also called mango. Similarly, just as adverse circumstances are also called sufferings. Those philosophers who see no chain relationship between cause and effect can never eradicate the root cause of unhappiness. Consequently, it perpetually recurs resulting in stupification.
15. See, Āyāro, 2.185.
16. See, Āyaro, 2.186

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Nayas—Ways of Approach and Observation*

— Nathmal Tatia

The Jaina philosopher has made some astonishingly original contributions in the field of logic and epistemology, which have not been properly assessed and appreciated by the rival schools of Indian thought. Among those I here propose to deal with a problem which has living interest not only for the professional philosophers, but also for practical men of the world. The problem will have interest for journalists, politicians and administrators who have to arrive at a decision and chalk out a line of action in the midst of conflicting views and demands actuated by diverse interests and inclinations. This problem is called Nayas-ways of approach and observation. Even when a problem is a self-identical singular question of fact or act, persons of different interests and inclinations are bound to study it in different lights, and each will claim the infallibility and imperative necessity of his point of view. It is not necessary that all of them should be erroneous or misdirected. It is quite possible that there is truth in each of these conflicting presentations. It is a question of paramount importance that these different views and conflicting assertions and truth-claims should be assessed at their real worth and assigned their proper value in an impartial estimation of the situation confronting a thinker.

The Jaina philosopher asserts that each fact, however trivial it may appear, can be thoroughly understood in the context of the entire reality and only in the light of its inter-connections with the rest of reality. A real thing is possessed of an infinite number of aspects and attributes, which can be thoroughly comprehended only by a person who is directly acquainted with the whole order of

* This article was first published in The Philosophical Quarterly Vol. XXV. No. 3, October, 1952.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

reality, in one word, who is omniscient. But this does not mean that the Jaina here offers a counsel of perfection, which amounts to a counsel of despair for persons like us, whose resources are limited. Though the full knowledge of all the possible characteristics even of a particle of dust cannot be claimed by any one of us, the knowledge of one attribute or another can be attained, if we are dispassionate and free from bias of a particular angle of vision, and are prepared for approaching it from other standpoints. The standpoints are called Nayas. A Naya is a viewpoint or a way of approach from which a person looks at a particular aspect of a thing, impelled by a consideration which is in its turn determined by his interest, inclination, and aesthetic, intellectual as well as moral equipment. It is entailed by our mental constitution and the exigencies of the human understanding that we should isolate one aspect of the reality and concentrate upon it. There is nothing to impugn its validity or expediency, provided it does not make us blind or hostile to the other aspects which present themselves to other viewpoints. The conflict becomes irreconcilable when the advocate of a particular aspect develops a fanatic zeal, and refuses to view the subject from other angles of vision. The rivalry and antagonism among philosophers, followers of different religious creeds, and also politicians derive from this exclusive emphasis upon a particular glimpse of the truth.

As we are interested in the logical problem, we select examples of philosophical interest to drive home the truth of our position. An entity can be viewed as possessed of diverse characteristics as they are unfolded to different ways of approach. For instance, a pen is an existent fact, and this shows that it has the character of existence which it shares in common with all other entities. Again, it may be regarded as a pen possessed of penhood which it shares with other pens. Again, it is found to possess a distinctive individuality which distinguishes it from all other things—pens and not-pens. Now the first character of existence is entirely devoid of diversity. The second character is diverse and unitive. So it may be called generic-cum-specific. The third is entirely specific as it belongs to the particular pen. The pen is thus found to possess an entirely generic- (aviśuddha), an entirely specific (visuddha) and generic-cum-specific (viśuddhā viśuddha) character. None of these is to be dismissed as an untrue estimation of the character of the pen. This truth is also attested in ordinary assertions of workaday life. Asked about his residence, a man may observe that his residence is in Asia or India or Bengal or Calcutta or Chowringhee or a particular house with a particular number. Ultimately he may observe, for the sake of exactitude, that as a soul he lives within his own body. Now all the observations are true, though the first statement presents a broadly generalized concept and the last the most specific one, the intermediate locations representing a graduated scale of specification. This way of

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

approach has been called *Naigama Naya*-the way of pantoscopic observation.

Now all these different traits are present and real. The philosophers of the Nyāya-Vaiśesika school approach reality from this point of view, and the result is the discovery of these multiple traits varying in the scale of generalization down to the ultimate limit of specialized content, which does not admit of any unitive common bond. The fallacy of this approach, according to the Jaina philosopher, consists in regarding these diverse traits as numerically and qualitatively different from one another and also from the substratum in which they are embodied. The Jaina philosopher admits the reality of these distinctive traits, but insists upon their integration in a concrete real, which is incompatible with their absolute otherness and diversity.

They are necessarily bound with the substratum and one another only by virtue of their being related by way of identity-cum-difference. While appreciating the acuteness of the observation of the philosophers of the Nyaya-Vaisesika school, he accuses them of abstractionist outlook which prevents the consideration of the unitive bond subsisting *inter se.*

The second way of approach is called synthetic vision which ignores the concrete entity in which the unity manifests itself. Now, a concrete entity is possessed of generic, generic-cum-specific and purely specific characteristics. The most generalized character, which any entity exhibits, is existence, which is also the necessary characteristic of all existent facts. This is creditable for the philosopher who discovers the unitive bond in the diversity of multiple characteristics. But when he regards this as the sole and absolute characteristic of reality and dismisses the diverse attributes as unreal appearance, swayed by the dictates of formal logic, he is held guilty of extremism and exclusiveness of outlook. The Vedantist of the monistic school has approached reality from this angle of vision and arrived at the conclusion that existence is the only character of reality.

The diverse characters such as substantiality, cowhood and the shape, magnitude, colour etc. are dismissed as unreal appearance on the ground that they cannot claim reality if they be other than existence. The only reality they' can claim is due to their identity with existence. This facile way of condemning the plain testimony of experience and the preferential treatment of a part of its content are regarded by the Jaina philosopher as the result of this way of approach and observation. If, however, a person stops at this discovery of a common bond, and asserts it to be the character of reality without any commitment regarding the other characteristics, he will not be guilty of an aberration. Certainly the

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

knowledge of a slice of reality cannot be false unless the fanaticism of the observer makes it the sole and sufficient character of it. This is called *Saṅgrdha Naya*-the synthetic approach and observation.

All extremism is by its very nature bound to create a reaction in the opposite direction. This has been called the dialectic movement of thought by Hegel. An extremistic assertion is compelled by the dialectic of its nature to pass into its opposite. The purely monistic outlook as exemplified in the aforesaid approach and angle of vision finds itself confronted by its diametrically opposite point of view, which is called *Vyavahra Naya*-the analytic and particularistic approach. The exclusively synthetic approach culminates in positing pure being as the only reality. But pure being is equivalent to non-being because both of them have no character and are as such indistinguishable. It may sound paradoxical that being and non-being should be regarded as identical. But the paradox will disappear if one calmly reflects on both. It is generally supposed that pure being represents plenitude and non-being stands for absolute poverty. But both are abstractions, pure and simple. And when one thinks that being is something positive and affirmative as opposed to the negativity of non-being, one has before ones mind the idea of some concrete real. A pure universal is only an empty idea, if it is divorced from concrete facts of experience. What we experience is always a concrete individual and the so-called universal is only an ideal abstraction. Whatever has no individuality of its own is a chimera. The sky-flower, a barren womans son, a mares nest are only names. They are never perceived by anybody. It is only individuals-say a pen, a table, a jar, a coatèthat we happen to observe.

Moreover, the criterion of reality is found in causal efficiency. A universal *ex hypothesi* has no causal efficiency. It is the individual cow that yields milk and not the so-called cowhood. It is the pen that writes and not penhood. The so-called universals are only hypostatized concepts which pass for reals only because the mental inertia of the average man prevents him from the labour of judging their worth. Not only the verdict of experience is against these universals but also logic confutes their reality. Is the universal different from the particulars or identical with them ?

If it be identical, then it becomes the individual only, and if it be different, it transpires to be an illusory fiction just like the asss horn. A universal unrelated to individuals is a mere name. What is the tree-universal apart from the trees ? If it be different from the particular trees, it will be the negation of the tree and so, like the jar or pen, will cease to have any connection with the tree. No honest thinker can think of a real tree which is not the oak or the mango or the teak etc. Experience is the proof of existence of a thing, and not pure thought. A universal as such is an unperceived fact.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

The synthetic unity among the particulars of a class, which renders classification possible, cannot be ignored. But the absolute identity of the universals in different individuals is not endorsed by Jaina philosophers. The universal is an empirical concept and must be given a status in the scheme of reality. The close resemblance of the individuals of a class is too pronounced and patents a fact to be dismissed without incurring the charge of infidelity to experience.

Now the particularistic approach which takes delight in the analysis of a real into particular components cannot stop short at the substantive individuals. And if the individual be regarded as an enduring and abiding entity persisting through the past, present and future, it amounts to the assertion of a universal in another way. The past is defunct and the future is unborn. And if experience be the proof of the existence of a thing, the past and the future existence of a fact must be rejected as unreal. What we perceive is the present, and so it is the present that can be real. Furthermore, the past has no causal efficiency and so also the future. The real tree is the present one which exercises causal efficiency. The past tree does not serve any purpose or give any advantage or disadvantage. So logical consistency demands that we should regard only that as real which is existent in the present moment. This line of argument has been pursued by the Buddhist who declares all reals to be momentary in duration.

This approach has been called *Ṛjusūtra Naya*, that is, the approach which gives the straight and direct glimpse of the thing. The present is the real character of the individual. The past find future determinations are as alien to it as the character of other entities.

The advocate of the next Naya goes one step further in the process of particularization. He agrees with the assertion that the present alone is real. But as the real is expressed and characterized by a word, and words are significant and not unmeaning symbols, the real must be understood in the light of the connotation of the term used for it. Each term designates an action, being derived from a verbal root and it is this action which stamps the fact meant with its distinctive character. And so the word *ghata*. (a jar), which is derived from the ghat to exert, stands for the thing which is capable of action viz drawing water etc. This is the case with all words. The king is one who is possessed of sovereign power. If a man is called by the name King, it has not the meaning of the word king. Similarly the portrait or the statue of a man is loosely identified with the man. The heir-apparent to the throne is addressed by the sycophants Your Majesty. These are all unmeaning expressions because they do not possess the function which the word cannotes. This emphasis on function constitutes the difference of this Naya from the previous one.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

The next Naya is called Samabhirūdha which goes another step further in the process of specification by identifying the etymological meaning *(vyutpattinimitta)* with the real meaning *(pravrttinimitta)*. Each word has got a distinctive connotation of its own. So there can be no synonyms in the true sense of the term. The jar is called ghata, kuta and also kumbha in Sanskrit. They are derived from different roots and each of them has got a distinctive meaning. Thus the V ghat stands for a particular action; V *kut* stands for crookedness; and *kumbha* which is derived from ku umbh to fill up stands for the action of filling. The derivative words should therefore be properly affixed to facts which have these acts as their connotation. It is not consistent to maintain that words with different connotations stand for self-identical entities, or have the same denotation.

The last verbalistic approach, called *evambhūta*, affirms that only the actualized meaning of the word is the real meaning. The word signifies an action, and the fact which actually exercises the action should be regarded as the real meaning. So the word *ghata* should mean the jar which actually draws water and not the jar which remains idle in a corner of the room. The latter does no possess the connotation, and so cannot be designated by the word Thus the king is the person who actually exercises sovereignty, the minister is one who actually exercises the function of a counsellor and framer of state policy. So when the king is engaged in domestic affairs or talking to his wife, he is not the king proper. The exponent of the preceding approach hits upon the truth that difference of words entails difference of meaning, but he fails to grasp the real significance of the connotation when he affixes the word to the fact which is bereft of the action connoted by it. The idle jar is as different and distinct from the water-carrying jar as the pen. If however the word could signify a fact devoid of the connotation, there is no reason why it should not be affixed to a different fact having a different connotation. Light, for instance, means an entity which actually illuminates. If it could be affixed to a lamp which has gone out, it could with equal logical propriety be affixed to an opaque stone.

The Jaina philosopher with his characteristic catholicity of outlook and tolerance for other views and readiness to accommodate them and assess them at their proper worth has no hesitation to receive them as estimations of reality. This toleration is however subject to the proviso that they must not be allowed to outstrip their proper jurisdiction. The unitive bond in the midst of diverse attributes is endorsed by the Jaina logician as it is attested by uncontradicted experience. What the Jaina emphasizes is that -all these traits are not isolated aspects, but integrated in the concrete fact which we experience. The so-called antinomies conjured up by abstract logic are only figments of formalism. Pure logic suffers from the defect that it

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ascribes rigidity to the different aspects, and makes them fixed characteristics which come into conflict with their opposites. There is nothing fixed in the world. Everything is impelled to change by the inner dialectic of its constitution. So the opposition of unity to diversity is only a figment. The different approaches only illustrate the .truth that the tendency to differentiation and specification, if not checked by reference to other concomitant traits, will culminate in disastrous results. Specification begins from the third approach. The fourth only concentrates the attention of the knower upon the immediate present. The fifth makes the word a determinant factor, and the sixth follows it up by abolishing all synonyms. The seventh asserts the actual presence of the verbal meaning to be the sole determinant of the reality. If however it were conceded that each trait is a real factor and it is indifferent to the other tracts, then each of them can be accepted as a true estimation of the reality. Of course each way of approach only succeeds in catching hold of a part. But the actuality of the part is undeniable. If the advocate of these different ways of approach asserts that the several findings are exclusive or mutually incompatible, he will expose himself to the charge of extremism and fanaticism.

In practical life, when a politician concentrates on the immdiate need of the hour and refuses to take a retrospective or prospective view, he makes himself guilty of exclusiveness. All dogmatism owes its genesis to this partiality of outlook and fondness for a line of thinking to which a person has accustomed himself. The Jaina logician welcomes all the light that comes from different ways of approach and integrates them in one -whole in which all these finite traits can co-subsist. This intellectual clarity will resolve all conflict and rivalry. So whatever may be the calling and avocation a man may be called upon to pursue, he can achieve success and combine it with benevolence and amity if he is alive to the importance and the utility of all the different ways of approach in the study of problems.

The Nalanda Pali Institute,
Nalanda (Bihar)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Essai Sur Guṇāḍhya Et La Bṛhatkathā*

— Professor Felix Lacote

Translated by the Rev. A.M. Tobard

The Paiśacī Language

The work of Daṇḍin quoted above, has induced us to think that before Gunāḍhya Paiśācī did not exist, at least as a literary language; the legend leads to the same conclusion. Guṇāḍhya, having given up the use of Sanskrit, of Prākrit, and of every local dialect, would have remained practically dumb, had he not used Paiśācī. Besides, the originality of that language seems to have struck deeply the Indian Savants, and it has done a great deal to raise the fame of Guṇāḍhya. What then was Paiśācī ?

Before answering a Prākrit - it is necessary to agree on the meaning of that word. Not that I mean to discuss here in detail the difficult problem of Prakrits, for that I refer the reader to the works of Mr. Senart and of Mr. Pischel.[1] Here I will content myself with some definitions which will serve as a basis for what is to follow.

The Artificial Characteristics of the Prakrits

It would be a misuse of the word Prakrit to apply it to the ordinary particulars. Under the general term of Prakrits Indian grammarians understand literary language which are to a large extent artificial. They are not derived from classical Sanskrit, but at the same time, they do not represent the dialectic products of the local evolution of the Vedic language. They are languages which did really exist but which have been altered and regulated according to some conventional rule by theoricians. Prakrit is opposed to Sanskrit and to Apabharaṃśa, at least was so in ancient times. The Kāvyādarśa makes a distinction between the works written in Sanskrit, in Prakrit in apabhraṃśa and those in which are used more than one of those languages for in the singular the last two words must be understood as

---

* This article was published in the Quarterly Journal of the Mythic Society, Bangalore, Vol. IV., 1913-1914.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

generic. Such is also the implicit classification of Vararuci, who, in the Prakṛtaprakāśa, does not mention apabhrmṣa, a proof that he does not consider it as a Prakrit. Yet, the barrier between an apabharaṃśa and a Prakrit is very thin. The more modern grammarians simply make aabhramca a kind of Prakrit, as it seen in Hemacandr'a, works and in the Mārkaṇḍeya Kavindra.[1] On the other hand, apabhraṃśas and Prakrit very often go in couples by the side of Śaurasenī, there is a Śaurasena-apabharaṃśa, of Mahārāṣṭri a Mahārāṣṭra-apabharaṃśa, of Māgadhi a Māgadha-apabharaṃśa. The examples given in Hemacandras Grammar show that apabharaṃśa must be nearer the spoken language, without one being able to affirm that it is absolutely identical with it, whereas Prakrit would rather be a compromise between the spoken language or, if you prefer, apabhrmṣa, and sanskrit.[2] This is what gives, to a certain extent, grammarians the right to say that Prakrit is based on Sanskrit which is assuredly untrue in a linguistic point of view but correct enough when one considers the principles followed by the creators of Prakrits in then work of adaptation. It is thus possible that at first the name apabhraṃśa was applied to spoken languages[3], those deśabhāṣa, the use of which, in the legend, Guṇāḍhya had forbidden himself as well as the use of Prakrit and of Sanskrit. But as soon as apabhraṃśa became a written language those vernaculars, which went by that name became, in their turn, literary and required the intervention of grammarians. Having thus become partly artificial they entered into the cycle of Prakrit, they were no longer distinguished from them, except by their lower level in relation to sanskrit. In short, grammarians came to recognize an apabhraṃśa type which they submitted to hard and fast rules. It became then necessary to separate it completely from the spoken languages. They then imagined they should distinguish literary apabhraṃśa from languages purely popular (deśabhāṣā). To tell the truth, if apabhraṃśa, taken as determined kind of Prakrit is a language relatively well defined, agreement has never been come to as to the meaning and extension of the general category. Apabhraṃśa[4]. We see that later on, even non-Aryan languages (Mārkaṇḍeya), have been admitted into it.

In any case, neither Prakrits nor apabhraṃśas as we read of them, no more than the monumental Prākrits, can be taken to represent exactly any local dialect. It is true they bear, as a rule, local names, but that even does not mean that they have been used by writes of a determined country of India : it only means that they have had as a basis a local dialect, more or less modified, and artificially altered. It is impossible to tell how far those voluntary alterations have gone the oldest inscriptions are written in a language dechancellerie already rather vague but certainly conventional.

Thus prakrits, in the narrow sense given by grammarians to that term, have no linguistic reality, or rather they have only an indirect one. In

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

that respect they are exactly like classical sanskrit but certainly inferior to the language of the Brāhmaṇas. A prakrit has no other existence but by the will of the writer who uses it is born the day when it pleases those who invent it to create it for literary life. This is the reason why the number of prakrits has a prior no limit and has never ceased to increase. The Prākṛtaprakāśa knows only four of them but, the more we go on in literary history, the more of them we meet in wonderful steadiness. It is generally admitted to day that the variety of prakrits used in a dramatic works is not a sign of antiquity.[5] This very fact, which was formally brought out in favour of the antiquity of the Mrcchakaṭika, for instance, now serves as an argument against it. If we had all the texts and if we were able to restore the complete history of prakrits we would be able to assign to each, at least as far as it is a literary language with fixed grammatical rules, so to say, and a date of birth.

It is impossible to arrive at such precision. We shall content ourselves to define a prakrit with the help of three data the name which indicates the local dialects of which it is an adaptation, the rules given by the native grammarians, lastly the texts. Paiśācī is one of the oldest prakrits it is mentioned by the Prākṛtaprakāśa by the side of Maharaṣṭri, of Māgadhi and of Sauraseni, but it is not, by far, so well known as the other three. Its name - an exception-does not seem to be local the information given about it by grammarians is very scanty. Lastly, the only fraguments of connected text which are still extant, are the few quotations we find in the Grammar of prakrits of Hemacandra (IV 303-28) and are believed to have been borrowed from the Bṛhatkathā.

B

The Extension of Paiśācī

Paiśacī seems to have existed very little in a literary form, it is regularly mentioned in the treatises of grammar, and it has been subdivided into numerous varieties, but as a matter of fact, we never find it used in works of literature. It is even difficult to affirm that this is due to chance alone and that time has caused the texts to disappear, and we are not at all sure that Paicāci has been used in any other work but he Bṛhatkathā. The Tibetans, voicing in this what they say is the doctrine of the Sarvāstivādins, affirm that, in olden times, the Sthaviras, one of the four great schools, used to read their sacred books in the picācika dialect, whereas the Sammitiyas used to read them in apabhraṃśa, the Mahāsaṃghikas in prakrit and the Sarvāstivādins in sanskrit[6]. That would tend to prove that Paiśācī, as a written language, has had a certain extension, if it were not evident that, for the authors of the division of languages - it is attributed by Tārānatha to a certain Vinitadeva-the word Paisācī designates in a very vague manner an

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

inferior and barbarous dialect. They do not know exactly what prakrit is as they speak of apabhraṃśa as a prakrit and they call it the language of animals. Then how could we admit that they had the least idea of what paiśācī was, when we see them attribute the use of it to the Sthaviras, that is to the sects of Ceylon? Shall we admit that the Tibetan tradition, though altered on that point, can be ancient and worthy of belief as to the use of Paiśācī by certain sects ? There is no doubt it can be relied on as far as the Sarvāstivādins are concerned. It is not only to attribute to themselves the first able as Mr. Kern[7] seems to believe, that the Sarvāstivādins have boasted to have had their sacred books written in sanskrit. The Sarvāstivādina are (says I - Tsing) one of the four school of the Mūla-Sarvāstivādins, of which the Vinaya has found place in the lists of Chinese and Tibetan sacred books. Now, in the Chinese canon Mr. S. Levi has discovered 32 of the 86 chapters which form the sanskrit compilation called the Divyāvadāṇa and 21 of those chapters are borrowed from the Vinaya[8] of the mūla-Sarvāstivādins. The language of the Divyāvadāna, though having singularly deviated from that of Pāṇini, is all the same true sanskrit. But if the Sarvāstivādins have told the truth concerning themselves, their classification, as to the additions, shows too much *sprit de systeme* for us to believe it to be based of facts. I agree with Mr. Kern that we have here a simple imitation of the laws imposed by the theoricians of the stage, who make their personages speak a dialect as far different from sanskrit as their social status is lower. The Sarvāstivādins attribute to the schools a regular language, the more vulgar in proportion to their being more beyond the pale of orthodoxy. The Sthaviras, occupying in that respect the lowest degree in the Tibetan classification, have been assigned Paiśācī, the very name of which seems to imply something degrading. The repartition of the languages among the four main groups of schools is necessarily posterior to the distribution of the eighteen schools under the headings which is itself recent. Nothing, however, authorizes us to believe that we are in presence of an ancient tradition.

Of the subvarieties of Paiśācī only one, Cūlikā-Paiśacī is known to us and that by one text (Arya stanzas quoted by Hemacandra, Gram. d.P.S. (Pischel), IV, 326).

There can hardly be any question of the use of Paiśācī as spoken language. A literary prakrit has never been identical with a spoken language. But Mr. Senart has suggested the idea that the name Paiśācī might very well have been applied just to the popular language, i.e. to apabhraṃśa. It would only be, he says, two different names to designate two analogous, if not identical, things. Perhaps it is for that reason that Vararuci does not mention apabhraṃśa. It is probable that, at the time when his grammar was written, the arbitrary[9] differentiation had not gone so far as to distinguish between apabharamca and paiśācī. It is true as we shall see later on, that

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

with the modern grammarians there is constant confusion between the Category Paiśācī and the Category apabhraṃśa. But that confusion, may be noticed, is peculiar to modern grammarians who write at a period when Paiśācī, the use of which had completely disappeared from common use, is no longer but a name which is used altogether at random. Let us go back only as far as Hemacandra, and we shall see by the instances which he quotes, that Paiśācī individualizes itself by special characters, perfectly systematized and capable of keeping for to certain extent, a Sanskrit physiognomy which is not its least striking originality. It does not seem to me that it should be confsed with apabhraṃśa. As to the omission of Apabhraṃśa my opinion is that it can be accounted for by the fact that in his time apabhramca had not yet been used as literacy language.

Mr. Hoernle has also suggested the hypothesis that Paiśācī might be a spoken language, in that case it would be the language of the immigrant Aryans corrupted in the mouth of the Dravidian[10] populations. We shall discuss that opinon later on. Lastly, Mr. Grierson does not hesitate to call modern[11] Paiśācī the dialects actually in use in Kafiristan, the upper, valley of Chitral of the Evat, of the Indus as far as Ladakh and Kashmere. Those languages of the North West have some phonetic peculiarities in common with Paiśācī, but it would be going too for give them the name of Paiśācī, which historically they have never borne, unless it be for convenient classification. It is by supposition only that their ancestors can be identified with the several paiśācas recognized by the grammarians (V. infra), and they have certainly not sprung from Paiśācī as it taught us by Hemacandra.

C

Oragin of the name Paiśācī

The oldest prakrits, Śaurasenī, Māgadhi, Mahāraṣṭri bear local names. Must that necessarily be the case with Paisāści ? Certainly not. Śaursenī, before it became a literary language, was the language of the Saurasenas who probably were the creators of the drama and had a popular poetry connected with the worship of Kṛṣna it has not come by a sudden invasion into the written and learned literature, the day it was fixed by an artificial code, it had a poetical and religious[12] past. The case is the same with Māgadhi, the name of the official bards (Māgadhas) keeps alive the memory of the rhapsodies of Māgadha. Mahārāṣṭri, the most famous and the most used of Prakrits in erotic poems, is reserved by the theoricians of the stage to the chanted stanzas, we are allowed to see in that fact the continuation of a local poetical tradition of the Mahārāṣṭra Paiśācī, on the countrary, has no antecedent, it appears suddenly in literature only with Guṇāḍhya. No doubt it was based on an existing language, but why should it have kept the name of one of the peoples who spoke that language, if these semi-barbarians had not made themselves famous by any literary work ?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

To believe that at any time peoples more or less savage have really been called Piśāca, is an illusion, the word in Sanskrit was always synonymous with Bhūta. The piśācas mentioned in the Mahābhārata (VII, 121-14) belong to an imaginary geography. The name is to be found, in an enumeration, after the names of real peoples, the Yavanas, Pāradas, Kalingas, Taṅgaṇas, Ambasthas, but just before the more vague classes of the barbarians and hillmen. In that text the word Piśaca simply means savages in general.

Mr. Grierson, remarking that the piśācas are flesh-eating demons-piśāca = Śomophagos-and that cannibal legends, relating to the national origins and religion, are current in the regions of the north-west where precisely are spoken the dialects called the modern Paiśācī, relies on these arguments to strengthen the linguistic considerations which have led him to propose that localization.[13] Must we then admit the existence of a nation of Piśācas, otherwise of cannibals? It would in that case be cannibals inhabiting places where were spoken Indo-European dialects, which Mr. Grierson believes intermediate between Iranian and Indian languages. I am willing to admit that sometimes man-eaters have been called piśacas, but that the generic term, used as a proper name is meant to designate some special tribe of the north-west, is less probable. All the possible suppositions on that point, appear to me equally inadmissible. Must we suppose that peoples speaking an Indo-European language and certainly not addicted to cannibalism, have been called cannibals on account of some old stories which they used to tell ? The Kauśika-Sūtra teaches indeed that the acquire vital strength it is necessary to eat seven vital parts of seven males among whom one Snātaka and one king. Has one ever heard the Brāhmaṇs called piśacas on that account ? It is not less difficult to believe that those people were given the name of the savages by whom they were surrounded.

Lastly it is not possible to maintain that those cannibals assimilated themselves, only as far as language went, to the neighbouring tribes, the savages, in those parts of India little accessible, have but too well succeeeded in preserving their customs and languages for us to admit that in Kafiristan and the neighbouring regions they have in ancient times adopted an imported language.

If piśāca has ever meant cannibal and if there had been tribes of picacas those picacas did not speak Paiśacī, and they have nothing to do with the prakrit of Guṇāḍhya. In Kashmere there are legends relating to struggles between Piśācas and Nāgas who are said to be the first inhabitants of the country, but I am unable to see in those legends the least trace of historical[14] reality.

As for the possible correlation between the name of the Paiśācī

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

language (group of Kafiristan) and the word piśāca, suggested by Mr. Hoernce,[15] it is really but a hypothesis based on a verbal resemblance, but entirely devoid of any scientific demonstration.

I shall have done with all the explanations of the name Paiśācī when I have mentioned that of Crooke[16]. The Bhūtas or piśācas are recognized according to popular beliefs, by the fact that they speak through the nose that very peculiarity would then explain the name Paiśāci. Unfortunately for that ingenious hypothesis, the grammarians teach us nothing of the kind and the fragments in Paiśāci which have come down to us do not present any special phenomenon of nasalization.

Reference :

1. E. Sanart, The Inscriptions of Piyadasi, R. Pischel, *Grammatic der Prakrit Sparchan* (Gr. der I.A. Ph. 1, 8) the question of paiśāci is summed up in para. 27, with the necessary bibliographical indications, they have only to be completed by those of G. Ar. Griasons The piśāca languages of North-Western India (London, R.A.S. 1906). The reader will se easily how much I am indebted to those works yet I must warn him that I am alone responsible for my deductions regarding Paiśācī.
2. In Pischel, 1.0. para. 3.
3. Ex. Śaurasena-apabharaṃśa . Kanthe Palambu kidu Radie. It would in Saurseni : Kanthe palambam kidam Radie. In Sanskrit Kanthe pralambam krtaṃ Ratyaḥ (Hem., Gram. D.P.S. Pischel) IV, 446 and cf. Pischel, G.D. P.S. para 5)
4. Apabhramśas tu yao chuddham tattaddecesn bhāsitam (Vāgbhaṭālamkāra (ed. of the Kavyamala) II.3)
5. Paiśāca, 1. C., para, 4.
6. S. Levi, Th, Ind., pp. 206-207
7. Cf. Burnouf, Introduction, 446 Lotus, 357, Wassilief, Der Buddhismus, etc. (Trad, Benfey), I, 248, 295, Kern, Histoire du bouddhisme dans IâInde, II, 448-52.
8. Kern 1.0
9. S. Levi, Les elements de mormation du Divyāvadana, Toun Pso, VIII (1907), 405-22 Cf. also E. Huber, Souroe du Divyāvadana, Bulletin de 1 Ecole francaise dExtreme-Orient, V. (1906) No. 1-2.
10. Les Insc. de Piyadasi, II, p 501, n.
11. A comparative grammar of the Gaudian Languages, Intr. XVIII-XX
12. The Piś, Lang. of North-West India.
13. S. Levi, Th. Ind. 330-5.
14. Piśāca - Omophagos, JEAS, 1996.
15. Cf. Grierson, The Pis Lang. p 2 and 189-90.
16. In Grierson, 1.o. 5. n.
17. Crooke, An Introduction to the Popular Behgion and Folklor of Northern India, p.149.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मैं और वह

मैं चाहता हूँ कि जो मैं देखता हूँ वह दूसरे भी देखें और जो मैं नहीं देख सकता, वह भी देखें।

मैं अपनी अच्छाइयों को अच्छी तरह देख लेता हूँ। अपनी दुर्बलताओं को भी पहली दृष्टि से देखता हूँ।

फिर भी बहुत सम्भव है– मुझमें जो विशेषताएँ विकास पा सकती हैं, उसे मैं न जानता होऊं। जो कमजोरियां तर्क की ओट में छिपी पड़ी हैं, उन्हें मैं न समझता होऊं।

मैं खुली पुस्तक की भाँति स्पष्ट रहना चाहता हूँ। जिस दिन अपनी अच्छाइयों की अभिव्यक्ति का साहस और बुराइयों को न छिपाने का मनोभाव मुझमें प्रकट हो जायेगा, उस दिन जो मैं देखूंगा, वही दूसरे देखेंगे। फिर मेरे और दूसरों के दर्शन में कोई भेद नहीं होगा।

— आचार्य महाप्रज्ञ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Postal Department : NUR 08 R.N.I. No. 28340/75

यः स्याद्वादी वचनसमये योप्यनेकान्तदृष्टिः
श्रद्धाकाले चरणविषये यश्च चारित्रनिष्ठः।
ज्ञानी ध्यानी प्रवचनपटुः कर्मयोगी तपस्वी,
नानारूपो भवतु शरणं वर्धमानो जिनेन्द्रः॥

जो बोलने के समय स्याद्वादी, श्रद्धाकाल में अनेकान्तदर्शी, आचरण की भूमिका में चरित्रनिष्ठ, प्रवृत्तिकाल में ज्ञानी, निवृत्तिकाल में ध्यानी, बाह्य के प्रति कर्मयोगी और अन्तर् के प्रति तपस्वी है, वह नानारूपधर भगवान् वर्द्धमान मेरे लिए शरण हो।

शुभकामनाओं सहित :

हेमराज शामसुखा

विनीत टेक्सफैब लिमिटेड

101, मामुलपेट

बंगलौर-560 053

फोन : 2872355, 2871754

प्रकाशक - सम्पादक - डॉ. मुमुक्षु शान्ता जैन द्वारा जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं
के लिए प्रकाशित एवं जयपुर प्रिण्टर्स, जयपुर द्वारा मुद्रित

Jain Education International www.jainelibrary.org